श्री कुंदकुंद कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प ४८

समयसार-प्रवचन

दूसरा भाग

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य देव प्रणीत
श्री समयसार शास्त्र पर
परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के
प्रवचन

: अनुवादक :
पं. परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ

: प्रकाशक :
श्री जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रथमावृत्ति प्रति १०००

वीर संवत् २४७६

मूल्य सात रुपए

मुद्रक

जमनादास माणिकचन्द रवाणी

श्री वीतरागाय नमः

प्रस्तावना

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमोगणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥

भरतक्षेत्र की पुण्यभूमि में आज से २४७५ वर्ष पूर्व जगतपूज्य परम-भट्टारक भगवान श्री महावीर स्वामी मोक्षमार्ग का प्रकाश करने के लिये अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा समस्त पदार्थों का स्वरूप प्रकट कर रहे थे। उनके निर्वाण के उपरांत कालदोष से क्रमशः अपार ज्ञानसिंधु का अधिकांश भाग तो विच्छेद होगया, और अल्प तथापि बीजभूत ज्ञान का प्रवाह आचार्यों की परंपरा द्वारा उत्तरोत्तर प्रवाहित होता रहा, जिसमें से आकाशस्तम्भ की भाँति कितने ही आचार्यों ने शास्त्र गूँथे। उन्हीं आचार्यों में से एक भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव थे, जिन्होंने सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी से प्रवर्तित ज्ञान को गुरु-परंपरा से प्राप्त करके, उसमें से पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि शास्त्रों की रचना की और संसार-नाशक श्रुतज्ञान को चिरजीवी बनाया।

सर्वोत्कृष्ट आगम श्री समयसार के कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव विक्रम संवत् के प्रारम्भ में होगये हैं, दिगम्बर जैन परम्परा में उनका स्थान सर्वोत्कृष्ट है। सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी और गणधर भगवान श्री गौतमस्वामी के पश्चात् भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव का ही स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु अपने को कुन्दकुन्दाचार्य की परंपरा का कहने में गौरव मानते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव के

शास्त्र साक्षात् गणधरदेव के वचनों के बराबर ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके पश्चात् होने वाले ग्रन्थकार आचार्य अपने कथन को सिद्ध करने के लिये कुन्दकुन्दाचार्य देव के शास्त्रों का प्रमाण देते हैं, इसलिये यह कथन निर्विवाद सिद्ध होता है। वास्तव में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव ने अपने परमागमों में तीर्थंकर देवों के द्वारा प्ररूपित उत्तमोत्तम सिद्धान्तों को सुरक्षित रखा है, और मोक्षमार्ग को स्थापित किया है। विक्रम संवत् ९९० में विद्यमान श्री देवसेनाचार्य, अपने दर्शनसार नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि—"विदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमन्धर स्वामी के समवसरण में जाकर श्री पद्मनन्दिनाथ ने (कुन्दकुन्दाचार्य देव ने) स्वतः प्राप्त किये हुए ज्ञान के द्वारा बोध न दिया होता तो मुनिजन यथार्थ मार्ग को कैसे जानते?" एक दूसरा उल्लेख देखिये, जिसमें कुन्दकुन्दाचार्य देव को कलिकालसर्वज्ञ कहा गया है। 'पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य-इन पाँच नामों से विभूषित, चार अंगुल ऊपर आकाश में गमन करने की जिनके ऋद्धि थी, जिन्होंने पूर्व विदेह में जाकर सीमंधर भगवान की वन्दना की थी और उनके पास से मिले हुए श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होंने भारतवर्ष के भव्य जीवों को प्रतिबोध दिया है—ऐसे श्री जिनचंद्रसूरि भट्टारक के उत्तराधिकारी रूप कलिकालसर्वज्ञ (भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव) के रचे हुए इस षट्प्राभृत ग्रन्थ में......सूरीश्वर श्री श्रुतसागर की रची हुई मोक्षप्राभृत की टीका समाप्त हुई।' इस प्रकार षट्प्राभृत की श्री श्रुतसागरसूरि कृत टीका के अंत में लिखा है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव की महत्ता को दर्शाने वाले ऐसे अनेकानेक उल्लेख जैन साहित्य में मिलते हैं, अनेक शिलालेख भी इसका प्रमाण देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सनातन जैन संप्रदाय में कलिकालसर्वज्ञ भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव का अपूर्व स्थान है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के रचे हुए अनेक शास्त्र हैं, जिनमें से कुछ इस समय भी विद्यमान हैं। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव के मुख से प्रवाहित

को बुद्धिरूपी मस्तक पर उठाकर भव्य जीवों को समर्पित किया है। वास्तव में इस काल में श्री समयसार शास्त्र मुमुक्षु भव्य जीवों का परम आधार है। ऐसे दुषमकाल में भी ऐसा अद्भुत, अनन्य शरणभूत शास्त्र, तीर्थंकरदेव के मुखारविंद से प्रगट हुआ अमृत विद्यमान है, यह अपना महान् सद्भाग्य है। निश्चय व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की ऐसी संकलनबद्ध प्ररूपणा अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं है। यदि पूज्य श्री कानजी स्वामी के शब्दों में कहा जाये तो 'यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है; लाखों शास्त्रों का सार इसमें विद्यमान है; जैनशासन का यह स्तम्भ है, साधकों के लिये कामधेनु कल्पवृक्ष है, चौदह पूर्व का रहस्य इसमें भरा हुआ है। इसकी प्रत्येक गाथा छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्म-अनुभव से प्रगट हुई है।

श्री समयसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव की प्राकृत गाथाओं पर आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका के लेखक (लगभग विक्रम संवत् की १०वीं शताब्दी में होगये) श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्य देव हैं। जिसप्रकार श्री समयसार के मूल कर्ता अलौकिक पुरुष हैं, वैसे ही इसके टीकाकार भी महासमर्थ आचार्य हैं। आत्मख्याति के समान टीका आजतक किसी भी जैनग्रन्थ की नहीं लिखी गई। उन्होंने पंचास्तिकाय और प्रवचनसार की टीका भी लिखी है एवं तत्त्वसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे हैं। उनकी एकमात्र आत्मख्याति टीका का स्वाध्याय करनेवाले को ही उनकी आध्यात्मरसिकता, आत्मानुभव, प्रखर विद्वत्ता, वस्तुस्वरूप को न्याय से सिद्ध करने की उनकी असाधारण शक्ति का भलीभाँति अनुभव होजाता है। संक्षेप में ही गंभीर-गूढ़ रहस्यों को भर देने वाली उनकी अनोखी शक्ति विद्वानों को आश्चर्यचकित कर देती है। उनकी यह दैवी टीका श्रुतकेवली के वचनों के समान है। जैसे मूल शास्त्र-कर्ता ने समयसारजी शास्त्र को समस्त निज-वैभव से रचा है, वैसे ही टीकाकार ने भी अत्यन्त सावधानीपूर्वक सम्पूर्ण निज-वैभव से

टीका की रचना की है; टीका के पढ़ने वाले को सहज ही ऐसा अनुभव हुए बिना नहीं रहता। शासनमान्य भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने इस कलिकाल में जगद्गुरु तीर्थंकरदेव जैसा काम किया है और श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने मानों जैसे वे भगवान कुन्दकुन्द के हृदय में ही प्रवेश कर गये हों, इसप्रकार उसके गम्भीर आशय को यथार्थरूप से व्यक्त करके उनके गणधर जैसा काम किया है। आत्मख्याति में विद्यमान काव्य (कलश) अध्यात्मरस और आत्मानुभव की तरंगों से परिपूर्ण हैं। श्री पद्मप्रभदेव जैसे समर्थ आचार्यों पर उन कलशों ने गहरा प्रभाव जमाया है और आज भी वे तत्वज्ञान एवं अध्यात्मरस से परिपूर्ण कलश अध्यात्मरसिकों की हृदतंत्री को झंकृत कर देते हैं। अध्यात्मकवि के रूप में श्री अमृतचन्द्राचार्य देव का स्थान जैन साहित्य में अद्वितीय है।

श्री समयसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव ने ४१५ गाथाओं की रचना प्राकृत में की है। उसपर श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने आत्मख्याति नामक तथा श्री जयसेनाचार्य देव ने तात्पर्यवृत्ति नाम की संस्कृत टीकाएँ लिखी हैं। उन आचार्य भगवंतों द्वारा किये गये अनन्त उपकार के स्मरण में उन्हें अत्यंत भक्तिभाव से वंदन करते हैं।

कुछ वर्ष पहले पंडित जयचंद्रजी ने मूल गाथाओं का और आत्मख्याति का, हिन्दी में अनुवाद किया और स्वतः भी उसमें कुछ भावार्थ लिखा। वह शास्त्र 'समयप्राभृत' के नाम से विक्रम संवत् १९६४ में प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् पंडित मनोहरलालजी ने उसको प्रचलित हिंदीभाषा में परिवर्तित किया और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा 'समयसार' के नाम से विक्रम संवत् १९७५ में प्रकाशित किया गया। इसप्रकार पण्डित जयचन्द्रजी, पंडित मनोहरलालजी का और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल का मुमुक्षु समाज पर उपकार है।

श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा प्रकाशित, हिन्दी समयसार का अध्यात्मयोगी श्री कानजी स्वामी पर परम उपकार हुआ। वि. सं.

१९७८ में उन महात्मा के करकमलों में यह परमपावन चिंतामणि आते ही उन कुशल जौहरी ने इसे परख लिया। सर्वरीति से स्पष्ट देखने पर उनके हृदय में परम उल्लास जागृत हुआ, आत्मभगवान ने विस्मृत हुई अनन्त गुणगम्भीर निजशक्ति को संभाला और अनादिकाल से पर के प्रति उत्साहपूर्वक दौड़ती हुई वृत्ति शिथिल होगई; तथा पर-सम्बन्ध से छूटकर स्वरूप में लीन होगई। इसप्रकार ग्रन्थाधिराज समयसार की असीम कृपा से बाल-ब्रह्मचारी श्री कानजी स्वामी ने चैतन्य-मूर्ति भगवान समयसार के दर्शन किये।

जैसे-जैसे वे समयसार में गहराई तक उतरते गये वैसे ही वैसे उन्होंने देखा कि केवलज्ञानी पिता से उत्तराधिकार में आई हुई अद्भुत निधियों को उनके सुपुत्र भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने रुचिपूर्वक संग्रह करके रखा है। कई वर्ष तक श्री समयसारजी का गंभीरतापूर्वक गहरा मनन करने के पश्चात् "किसी भी प्रकार जगत के जीव सर्वज्ञ पिता की इस अमूल्य सम्पत्ति को समझलें तथा अनादिकालीन दीनता का नाश करदें!" ऐसी करुणाबुद्धि करके उन्होंने समयसारजी पर अपूर्व प्रवचनों का प्रारम्भ किया और यथाशक्ति आत्मलाभ लिया। आजतक पूज्य श्री कानजी स्वामी ने सात बार श्री समयसारजी पर प्रवचन पूर्ण किये हैं और इस समय भी सोनगढ़ में आठवीं बार वह अमृतवर्षा होरही है। संवत् १९९९-२००० की साल में जिस समय उनकी राजकोट में ९ महीने की स्थिति थी, उस समय श्री समयसार के कितने ही अधिकारों पर उनके (छठवीं बार) प्रवचन हुए थे। उस समय श्री जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट को ऐसा लगा कि 'यह अमूल्य मुक्ताफल बिखरे जाते हैं, यदि इन्हें झेल लिया जाये तो यह अनेक मुमुक्षुओं की दरिद्रता दूर करके उन्हें स्वरूपलक्ष्मी की प्राप्ति करादें।' ऐसा विचार करके ट्रस्ट ने उन प्रवचनों को पुस्तकाकार प्रकाशित कराने के हेतु से उनको नोट कर लेने (लिख लेने) का प्रबन्ध किया था। उन्हीं लेखों से श्री समयसार प्रवचन गुजराती भाषा में पाँच भागों में पुस्तकाकार प्रकाशित

होचुके हैं और उन्हीं का हिन्दी अनुवाद कराकर, श्री समयसार-प्रवचन दूसरा भाग (हिन्दी) को हमें मुमुक्षुओं के हाथ में देते हुए हर्ष होरहा है। इस अनुवाद में कोई न्यायविरुद्ध भाव न आजाये इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखा गया है।

जैसे श्री समयसार शास्त्र के मूल-कर्ता और टीकाकार अत्यंत आत्म-स्थित आचार्य भगवान थे वैसे ही उसके प्रवचनकार भी स्वरूपानुभवी, वीतराग के परम भक्त, अनेक शास्त्रों के पारगामी एवं आश्चर्यकारी प्रभावना उदय के धारी युगप्रधान महापुरुष हैं। उनका यह समयसार-प्रवचन पढ़ते ही पाठकों को उसके आत्म अनुभव, गाढ़ अध्यात्म प्रेम, स्वरूपोन्मुख परिणति, वीतराग भक्ति के रंग में रंगा हुआ उनका चित्त, अगाध श्रुतज्ञान और परम कल्याणकारी वचनयोग का अनुभव हुए विना नहीं रहता। उनका संक्षिप्त जीवन—परिचय अन्यत्र दिया गया है, इसलिये उनके गुणों के विषय में यहाँ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। उनके अत्यंत आश्चर्यजनक प्रभावना का उदय होने के कारण, गत चौदह वर्षों में समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, षट्खण्डागम, पद्मनन्दिपंचविंश-तिका, तत्त्वार्थसार, इष्टोपदेश, पंचाध्यायी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अनुभव-प्रकाश, आत्मसिद्धि शास्त्र, आत्मानुशासन इत्यादि शास्त्रों पर आगमरहस्य-प्रकाशक, स्वानुभव मुद्रित अपूर्व प्रवचन करके काठियावाड़ में आत्मविद्या का अतिप्रबल आन्दोलन किया है। मात्र काठियावाड़ में ही नहीं, किन्तु धीरे-धीरे उनका पवित्र उपदेश पुस्तकों और 'आत्मधर्म' नामक मासिकपत्र के द्वारा प्रकाशित होने के कारण समस्त भारतवर्ष में अध्यात्म-विद्या का आन्दोलन वेगपूर्वक विस्तृत होरहा है। इसप्रकार, स्वभाव से सुगम तथापि गुरुगम की लुप्तप्रायता के कारण और अनादिअज्ञान को लेकर अतिशय दुर्गम होगये जिनागम के गंभीर आशय को यथार्थरूप से स्पष्ट करके उन्होंने वीतराग-विज्ञान की बुझती हुई ज्योति को प्रज्वलित किया है। परम पवित्र जिनागम तो अपार निधानों से परिपूर्ण है, किन्तु उन्हें देखने की दृष्टि स्वामीजी के समागम और उनके करुणापूर्वक दिये हुए

प्रवचन-अंजन के बिना हम अल्पबुद्धिओं को वह कैसे प्राप्त होती? पंचमकाल में चतुर्थकाल की झलक दिखाने वाले शासनप्रभावक श्री कानजी स्वामी ने आगम के रहस्यों को खोलकर हमारे जैसे हजारों जीवों पर जो अपार करुणा की है उसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं होसकता।

जिसप्रकार स्वामीजी का प्रत्यक्ष समागम अनेक जीवों का अपार उपकार कर रहा है, उसीप्रकार उनके यह पवित्र प्रवचन भी वर्तमान और भविष्यकाल के हजारों जीवों को यथार्थ मोक्षमार्ग बतलाने के लिये उपकारी सिद्ध होंगे। इस दुषमकाल में जीव प्रायः बंधमार्ग को ही मोक्षमार्ग मानकर प्रवर्तन कर रहे हैं। जिस स्वावलम्बी पुरुषार्थ के बिना—निश्चयनय के आश्रय के बिना मोक्षमार्ग का प्रारंभ भी नहीं होता उस पुरुषार्थ की जीवों को गंध भी नहीं आई है, किन्तु मात्र परावलंबी भावों को व्यवहाराभास के आश्रय को ही मोक्षमार्ग मानकर उसका सेवन कर रहे हैं। स्वावलंबी पुरुषार्थ का उपदेश देने वाले ज्ञानी पुरुषों की दुर्लभता है एवं समयसार परमागम का अभ्यास भी अति अल्प है, कदाचित् कोई-कोई जीव उसका अभ्यास करते भी हैं किन्तु गुरुगम के बिना उनके मात्र अक्षरज्ञान ही होता है। श्री समयसार के पुरुषार्थमूलक गहन सत्य मिथ्यात्वमूढ़ हीनवीर्य जीवों को अनादि अपरिचित होने के कारण, ज्ञानी पुरुषों के प्रत्यक्ष समागम के बिना अथवा उनके द्वारा किये गये विस्तृत विवेचनों के बिना समझना अत्यंत कठिन है। श्री समयसारजी की प्राथमिक भूमिका की बातों को ही सत्वहीन जीव उच्चभूमिका की कल्पित कर लेते हैं, चतुर्थ गुणस्थान के भावों को तेरहवें गुणस्थान का मान लेते हैं, तथा निरावलम्बी (स्वावलम्बी) पुरुषार्थ तो कथनमात्र की ही वस्तु है, इसप्रकार उसकी उपेक्षा करके सालम्बी (परालम्बी) भावों के प्रति जो आग्रह है उसे नहीं छोड़ते। ऐसी करुणाजनक परिस्थिति में जबकि सम्यक्-उपदेष्टाओं की अधिकांश न्यूनता के कारण मोक्षमार्ग का प्रायः लोप होगया है तब युग-

प्रधान सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने श्री समयसारजी के विस्तृत विवेचनात्मक प्रवचनों के द्वारा जिनागमों का मर्म खोलकर मोक्षमार्ग को अनावृत करके वीतराग दर्शन का पुनुरुद्धार किया है, मोक्ष के महामंत्र समान समयसारजी की प्रत्येक गाथा को पूर्णतया शोधकर इन संक्षिप्त सूत्रों के विराट अर्थ को प्रवचनरूप से प्रगट किया है। सभी ने जिनका अनुभव किया हो ऐसे घरेलू प्रसंगों के अनेक उदाहरणों द्वारा, अतिशय प्रभावक तथापि सुगम, ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा कुन्दकुन्द भगवान के परमभक्त श्री कानजी स्वामी ने समयसारजी के अत्यंत अर्थ-गंभीर सूक्ष्म सिद्धांतों को अतिशय स्पष्ट और सरल बनाया है। जीव के कैसे भाव रहें तब जीव-पुद्गल का स्वतंत्र परिणमन, तथा कैसे भाव रहें तब नवतत्वों का भूतार्थ स्वरूप समझ में आया कहलाता है। कैसे-कैसे भाव रहें तब निरावलम्बी पुरुषार्थ का आदर, सम्यग्दर्शन, चारित्र, तप, वीर्यादिक की प्राप्ति हुई कहलाती है– आदि विषयों का मनुष्य के जीवन में आने वाले सैकड़ों प्रसंगों के प्रमाण देकर ऐसा स्पष्टीकरण किया है कि मुमुक्षुओं को उन-उन विषयों का स्पष्ट सूक्ष्म ज्ञान होकर अपूर्व गंभीर अर्थ दृष्टिगोचर हों और वे बंधमार्ग में मोक्षमार्ग की कल्पना को छोड़कर यथार्थ मोक्षमार्ग को समझकर सम्यक्-पुरुषार्थ में लीन होजायें। इसप्रकार श्री समयसार जी के मोक्षदायक भावों को अतिशय मधुर, नित्य-नवीन, वैविध्यपूर्ण शैली द्वारा प्रभावक भाषा में अत्यंत स्पष्टरूप से समझाकर जगत का अपार उपकार किया है। समयसार में भरे हुए अनमोल तत्व-रत्नों का मूल्य ज्ञानियों के हृदय में छुप रहा था वह उन्होंने जगत को बतलाया है।

किसी परम मंगलयोग में, दिव्यध्वनि के नवनीतस्वरूप श्री समयसार परमागम की रचना हुई। इस रचना के पश्चात् एक हजार वर्ष में जगत के महाभाग्योदय से श्री समयसारजी के गहन तत्वों को विकसित करने वाली भगवती आत्मख्याति की रचना हुई और उसके उपरान्त एक हजार वर्ष पश्चात् जगत में पुनः महापुण्योदय से मंदबुद्धिओं को भी समयसार

के मोक्षदायक तत्व ग्रहण कराने वाले परम कल्याणकारी समयसार-प्रवचन हुए। जीवों की बुद्धि क्रमशः मन्द होती जा रही है तथापि पंचमकाल के अन्ततक स्वानुभूति का मार्ग अविच्छिन्न रहना है, इसीलिए स्वानुभूति के उत्कृष्ट निमित्तभूत श्री समयसार जी के गम्भीर आशय विशेष-विशेष स्पष्ट होने के लिये परमपवित्र योग बनते रहते हैं। अन्तर्बाह्य परमपवित्र योगों में प्रगट हुए जगत के तीन महादीपक श्री समयसार, श्री आत्मख्याति और श्री समयसार-प्रवचन सदा जयवंत रहें! और स्वानुभूति के पथ को प्रकाशित करें!

यह परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूति के पन्थ को अत्यंत स्पष्टरूप से प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं किन्तु साथ ही मुमुक्षु जीवों के हृदय में स्वानुभव की रुचि और पुरुषार्थ जाग्रत करके अंशतः सत्पुरुष के प्रत्यक्ष उपदेश जैसा ही चमत्कारिक कार्य करते हैं। प्रवचनों की वाणी इतनी सहज, भावार्द्र, सजीव है कि चैतन्यमूर्ति पूज्य श्री कानजी स्वामी के चैतन्यभाव ही मूर्तिमान होकर वाणी-प्रवाहरूप बह रहे हों! ऐसी अत्यंत भाववाहिनी अंतर-वेदन को प्ररूप से व्यक्त करती, शुद्धात्मा के प्रति अपार प्रेम से उभराती, हृदयस्पर्शी वाणी सुपात्र पाठक के हृदय को हर्षित कर देती है, और उसकी विपरीत रुचि को क्षीण करके शुद्धात्मरुचि जागृत करती है। प्रवचनों के प्रत्येक पृष्ठ में शुद्धात्ममहिमा का अत्यंत भक्तिमय वातावरण गुँजित होरहा है, और प्रत्येक शब्द में से मधुर अनुभव-रस झर रहा है। इस शुद्धात्मभक्तिरस से और अनुभवरस से मुमुक्षु का हृदय भीग जाता है और वह शुद्धात्मा की लय में मग्न होजाता है; शुद्धात्मा के अतिरिक्त समस्त भाव उसे तुच्छ भासित होते हैं और पुरुषार्थ उभरने लगता है। ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकाकार वाणी में क्वचित् ही देखने में आती है।

इसप्रकार दिव्य तत्वज्ञान के गहन रहस्य अमृतझरती वाणी द्वारा समझाकर और साथ ही शुद्धात्मरुचि को जागृत करके पुरुषार्थ का आह्वान, प्रत्यक्ष सत्समागम की झाँकी दिखलाने वाले यह प्रवचन जैन-

साहित्य में अनुपम हैं। जो मुमुक्षु प्रत्यक्ष सत्पुरुष से विलग हैं, एवं जिन्हें उनकी निरन्तर संगति दुष्प्राप्य है—ऐसे मुमुक्षुओं को यह प्रवचन अनन्य-आधारभूत हैं। निरावलम्बी पुरुषार्थ को समझाना और उसके लिये प्रेरणा देना ही इस शास्त्र का प्रधान उद्देश्य होने पर भी उसका सर्वांग स्पष्टीकरण करते हुए समस्त शास्त्रों के सर्व प्रयोजनभूत तत्वों का स्पष्टीकरण भी इन प्रवचनों में आगया है; मानों श्रुतामृत का परम आह्लाद-जनक महासागर इनमें हिलोरें ले रहा हो। यह प्रवचनग्रन्थ हजारों प्रश्नों को सुलझाने के लिये महाकोष है। शुद्धात्मा की रुचि उत्पन्न करके, पर के प्रति जो रुचि है उसे नष्ट करने की परम औषधि है। स्वानुभूति का सुगम पथ है तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के समस्त आत्मार्थिओं के लिये यह अत्यंत उपकारी है। परम पूज्य श्री कानजी स्वामी ने इन अमृतसागर के समान प्रवचनों की भेट देकर भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को उपकृत किया है।

स्वरूप-सुधा की प्राप्ति के इच्छुक जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों का बारंबार मनन करना योग्य है। संसार-विषवृक्ष को नष्ट करने के लिये यह अमोघ शस्त्र हैं। इस अल्पायुषी मनुष्य भव में जीव का सर्व-प्रथम यदि कोई कर्तव्य है तो वह शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति और अनुभव है। उन बहुमानादि के कराने में यह प्रवचन परम निमित्तभूत हैं। हे मुमुक्षुओ! अतिशय उल्लासपूर्वक इनका अभ्यास करके उग्र पुरुषार्थ से इनमें भरे हुए भावों को भलीभाँति हृदय में उतारकर, शुद्धात्मा की रुचि, प्रतीति और अनुभव करके शाश्वत परमानन्द को प्राप्त करो!

माघ शुक्ला १२,
वीर संवत् २४७६

रामजी माणेकचंद दोशी,
प्रमुख—
श्री जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़

साहित्य में अनुपम हैं। जो मुमुक्षु प्रत्यक्ष सत्पुरुष से विलग हैं, एवं जिन्हें उनकी निरन्तर संगति दुष्प्राप्य है–ऐसे मुमुक्षुओं को यह प्रवचन अनन्य-आधारभूत हैं। निरावलम्बी पुरुषार्थ को समझाना और उसके लिये प्रेरणा देना ही इस शास्त्र का प्रधान उद्देश्य होने पर भी उसका सर्वांग स्पष्टीकरण करते हुए समस्त शास्त्रों के सर्व प्रयोजनभूत तत्वों का स्पष्टीकरण भी इन प्रवचनों में आगया है; मानों श्रुतामृत का परम आह्लादजनक महासागर इनमें हिलोरें ले रहा हो। यह प्रवचनग्रन्थ हजारों प्रश्नों को सुलझाने के लिये महाकोष है। शुद्धात्मा की रुचि उत्पन्न करके, पर के प्रति जो रुचि है उसे नष्ट करने की परम औषधि है। स्वानुभूति का सुगम पथ है तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के समस्त आत्मार्थियों के लिये यह अत्यंत उपकारी है। परम पूज्य श्री कानजी स्वामी ने इन अमृतसागर के समान प्रवचनों की भेट देकर भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को उपकृत किया है।

स्वरूप-सुधा की प्राप्ति के इच्छुक जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों का बारंबार मनन करना योग्य है। संसार-विषवृक्ष को नष्ट करने के लिये यह अमोघ शस्त्र हैं। इस अल्पायुषी मनुष्य भव में जीव का सर्वप्रथम यदि कोई कर्तव्य है तो वह शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति और अनुभव है। उन बहुमानादि के कराने में यह प्रवचन परम निमित्तभूत हैं। हे मुमुक्षुओ! अतिशय उल्लासपूर्वक इनका अभ्यास करके उग्र पुरुषार्थ से इनमें भरे हुए भावों को भलीभाँति हृदय में उतारकर, शुद्धात्मा की रुचि, प्रतीति और अनुभव करके शाश्वत परमानन्द को प्राप्त करो!

माघ शुक्ला १२,
वीर संवत् २४७६

रामजी माणेकचंद दोशी,
प्रमुख–
श्री जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत
श्री समयसार शास्त्र पर
परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन
गाथा १३ से प्रारम्भ

भूमिका

यथार्थ नव तत्त्वों के विकल्प से छूटकर निर्मल एक स्वभावता को शुद्धनय से जानना सो निश्चय-सम्यक्त्व है, यह बात तेरहवीं गाथा में कही जायेगी।

धर्म-आत्मा का निर्मल स्वभाव-आत्मा में ही स्वाधीनरूप से है वह न तो बाहर से आता है और न बाहर की सहायता से आता है; किसी भी पर से या शुभविकल्प की सहायता से आत्मा का अविकारी धर्म प्रगट नहीं होता। अज्ञानी जीव पर-संयोगाधीन विकारी अवस्था का कर्ता होकर अपने को भूलकर देहादिक तथा रागादिकरूप से पर की क्रिया करने वाले के रूप में अपने को मानता है; किन्तु परमार्थ से आत्मा सर्व से भिन्न है, प्रतिसमय अनादि अनंत पूर्ण है और स्वतंत्र है।

आत्मा में अनंत गुण भरे हुए हैं, उसकी यथार्थ प्रतीति करके, विकारी भावों का त्याग करके निर्मल निराकुल ज्ञानानंद स्वभाव को प्रगट करने को कहा है। जो हो सकता है वही कहा जाता है। आत्मा बाहर का कुछ नहीं कर सकता इसलिये वह नहीं कहा गया है। आत्मा अपने में ही अनंत पुरुषार्थ कर सकता है, बाह्य में कुछ नहीं कर सकता।

जो कोई आत्मा अपना भला (कल्याण) करना चाहता है वह यदि स्वाश्रित हो तभी कर सकता है। यदि बाहर से लेना पड़े तो पराधीन कहलाता है। आत्मा का धर्म स्वाधीन अपने में ही है। मन, वचन, काय में आत्मा का धर्म नहीं है, भीतर जड़-कर्म का

संयोग है उसमें भी धर्म नहीं है। परवस्तु आत्मा के लिये व्यवहार से भी सहायक नहीं है। आत्मा के स्वाधीन गुणों को कोई नहीं लेगया है इसलिये कोई दे भी नहीं सकता। पुण्य-पाप का संयोग और पुण्य-पाप के शुभाशुभ विकारी भावों से अविकारी आत्मधर्म प्रगट होगा इसप्रकार जो मानता है उसे आत्मा के स्वतंत्र गुण की श्रद्धा नहीं है; वह अपने को परमुखापेक्षी और निर्वीर्य पराधीन मानता है।

आत्मा में शक्तिरूप से अनन्त गुण प्रतिसमय परिपूर्ण हैं, किंतु मान्यता में अंतर होजाने से बाह्यदृष्टि के द्वारा दूसरे से गुण-लाभ मानता है। अन्य पदार्थों में अच्छाई बुराई मानना ही मान्यता का अंतर है। जो यह मानता है कि भीतर गुण विद्यमान नहीं हैं उसका अनंत-संसार विद्यमान है, और जो यह मानता है कि अंतरंग में अनन्त गुण विद्यमान हैं उसकी दृष्टि भीतर की ओर जाती है तब वहाँ एकाग्रता होती है अर्थात् गुण की अवस्था निर्मल हुआ करती है और अवगुण की अवस्था का नाश होता जाता है।

जो पूर्ण निर्मलस्वरूप आत्मा की प्रतीति के बिना, पर से धर्म मानता है और देव, गुरु, शास्त्र से धर्म मानता है तथा शरीर रुपया-पैसा इत्यादि जड़ पदार्थों से धर्म मानता है उसकी मान्यता विपरीत है, जिसमें कौआ कुत्ता नारकी इत्यादि के अनंतभव विद्यमान हैं।

परमार्थदृष्टि के द्वारा यथार्थ सम्यक्दर्शन को प्राप्त करना ही वास्तविक कर्तव्य है। वह सम्यक्दर्शन का वास्तविक स्वरूप कहलाता है। वह परम अद्भुत, अलौकिक, अचिंत्य है। वह ऐसा स्वरूप है कि जिसे लोगों ने अनन्तकाल में न तो माना है, न जाना है और न अनुभव ही किया है। उसका रहस्य श्री कुंदकुंदाचार्यदेव को सर्वज्ञ परमात्मा के निकट से प्राप्त हुआ था और उन्होंने उसका स्वयं अनुभव किया था जोकि यहाँ तेरहवीं गाथा में कहते हैं।

जिसे अंतरंग स्वभाव के गुणों की प्रतीति नहीं जमती, और जो यह मानता है कि बाह्य में कुछ करूँ तो गुण लाभ हो, मन, वाणी, देह

तथा इन्द्रियों से और देव, गुरु, शास्त्र आदि संयोगी परवस्तु से आत्मस्वभाव प्रगट होता है वह जीव-अजीव को एक मानता है। उसे असंयोगी स्वाधीन आत्मस्वरूप की श्रद्धा नहीं है। जैसे सिद्ध भगवान देहादि संयोग से रहित अनंत गुणों से अपने पूर्ण स्वभावरूप हैं वैसे ही प्रत्येक जीव सदा परमार्थ से अनंतगुणों से परिपूर्ण है, स्वतंत्र है। एकेन्द्रिय में अथवा निगोददशा में भी स्वभाव से तो पूर्ण प्रभु ही है।

मैं अंतरंग के अनन्तगुणों से परिपूर्ण हूँ, असंयोगी हूँ, अविनाशी हूँ, स्वतंत्र हूँ और परसे भिन्न हूँ इसप्रकार स्वभाव को भूलकर जो यह मानता है कि मैं दूसरे से संतुष्ट होऊं, दूसरे को संतुष्ट करूं और किसी की कृपा से लाभ हो जाये तथा जो इसप्रकार दूसरों से गुण-लाभ मानता है उसे यह खबर ही नहीं है कि स्वतंत्र आत्मा क्या है। धर्म की प्रारंभिक इकाई (सम्यग्दर्शन) क्या है। जो यह मानता है कि पुण्य-पाप के विकारी भाव अथवा मन, वाणी या देह की सहायता से निज को गुण-लाभ होता है वह अनित्य संयोग में शरण मानता है। किसी का आधार मानने का अर्थ यह है कि अपने में निज की कोई शक्ति नहीं है यह विपरीत मान्यता ही अनंत-संसार में परिभ्रमण करने का बीज है।

जैसे पूर्ण गुण सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा में है वैसे ही पूर्ण गुण मुझमें भी हैं ऐसी श्रद्धा के बल से मलिनता का नाश और निर्मलता की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त यदि कोई दूसरा उपाय बताये तो वह निरा पाखंड है, संसार में परिभ्रमण करने का उपाय है।

निर्मल स्वभाव की प्रतीति करने के बाद सम्यग्ज्ञान के द्वारा वर्तमान विकारी अवस्था और संयोग का निमित्त इत्यादि जैसा है वैसा ही जानता है, किन्तु यदि उसके कर्तृत्व को या स्वामित्व को माने अथवा शुभराग को सहायक माने तो वह ज्ञान सच्चाज्ञान नहीं है। मैं शुद्धनय से एकरूप पूर्ण ध्रुव स्वभावी हूँ ऐसी प्रतीति किये बिना सम्यक्-

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुराणपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥ १३ ॥

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च।
आस्रवसंवरनिर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम्॥ १३॥

अर्थः-भूतार्थनय के द्वारा जाने गये जीव, अजीव, पुण्य-पाप आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष (यह नवतत्व) सम्यक्त्व हैं।

यहाँ सम्यक्त्व की चर्चा होरही है। श्रावक के व्रत और मुनित्व सम्यक्त्व के बाद ही होते हैं। निश्चय परमार्थरूप सम्यक्त्व के विना जितने भी क्रियाकांड, व्रत तप इत्यादि किये जाते हैं वे सब वालव्रत और वालतप हैं, ऐसा श्री सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। शुभभाव भी विकारी (आस्रव) भाव हैं, उनसे आत्मा को कोई लाभ नहीं होता। ज्ञानी को भी महाव्रतादि के शुभभाव से लाभ नहीं होता, किन्तु अविकारी अखंड स्वभाव के लक्ष्य से जितनी स्थिरता प्रगट होती है उतना लाभ होता है। जवतक संपूर्ण राग दूर नहीं होजाता, वीतराग नहीं हो जाता तवतक अशुभ में न जाने के लिये व्रतादि के शुभभाव हुए विना नहीं रहते, किन्तु ज्ञानी उन्हें अपने स्वभाव का नहीं मानते। जो शुभभाव से लाभ मानते हैं उन्हें स्वतंत्र स्वभाव के गुणकी श्रद्धा नहीं है।

प्रश्नः-आत्मा के गुणों की फसल कहाँ से वढ़ती है?

उत्तरः-स्वभावाश्रित सम्यक्दर्शन रूपी वीज से, और सम्यक्दर्शन के द्वारा की गई अखण्ड स्वलक्ष्य की स्थिरता से। किन्तु स्मरण रहे कि शुभभाव से अथवा किसी भी विकार से अविकारी आत्मा को कदापि गुण-लाभ नहीं होता। गुण तो स्वभाव में ही विद्यमान हैं। गुण प्रगट नहीं होते किन्तु गुण की पर्याय प्रगट होती है, उसे व्यवहार से यह कहा जाता है कि-'गुण प्रगट हुए हैं'।

जड़ कर्माधीन जो पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्ति उठती है सो अभूतार्थ है; नव तत्त्व का विकल्प भी अस्थायी क्षणिकभाव है, इसलिये वह अभूतार्थ है, स्वभाव में स्थिर होने वाला नहीं है। नवतत्त्व के भेद तथा सर्व विकारी अवस्था के भेदों को गौण करके नित्य एकरूप ज्ञायक-स्वभाव को लक्ष में लेने वाली दृष्टि को शुद्धनय अथवा भूतार्थदृष्टि कहते हैं।

नवतत्त्वों का मन के द्वारा विचार करना सो शुभराग है। वह शुभविकल्प परिपूर्ण यथार्थ तत्त्व के समझने में बीच में निमित्तरूप से आये विना नहीं रहता; किन्तु उस विकल्प का अभाव करके, क्षणिक विकारी अंश को गौण करके, शुद्धनय के द्वारा एकरूप अखंडज्ञायक स्वभावी आत्मा को जानकर उसकी श्रद्धा करे सो सम्यक्दर्शन है। स्वभाव के बल से निश्चय एकत्व की श्रद्धा होती है, वहाँ नवतत्त्व के विचार की प्रथम उपस्थिति थी इसलिये वह निमित्त कहलाता है।

स्वयं ही पूर्ण कल्याणस्वरूप स्वतंत्र है, उस स्वभाव के लक्ष्य से नवतत्त्व के भेद को छोड़कर निर्मल एकत्व की श्रद्धा में स्थिर होना सो उसे सर्वज्ञ भगवानने सम्यक्त्व कहा है।

टीका:—जीवादिक नवतत्त्वों को शुद्धनय से जाने और जानने के बाद विकल्प को गौण करके स्वभावोन्मुख होकर एकरूप स्वभाव को जाने सो नियम से सम्यक्दर्शन है। यह धर्म की पहली सीढ़ी है। इसके विना, व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि शुभभाव करके राग को कम करे और तृष्णा को घटाये तो पुण्य होता है, किन्तु उससे किंचित्-मात्र भी आत्मधर्म प्रगट नहीं होता। आगे ३९ वीं गाथा में आचार्य-देव ने कहा है कि—जो शुभाशुभ भाव को आत्मा का स्वरूप मानता है वह मूढ़ है।

अंतरंग भूतार्थ (त्रैकालिक पदार्थ) नित्य पूर्ण शक्ति से भरा हुआ है, उसीकी महिमा करके, उसीका लक्ष करके अंतरंग में ढले और

मात्र नवतत्वों के विचार में लगा रहे तो उसे पुण्य होता है; किन्तु अनंतगुणस्वरूप द्रव्य की श्रद्धा नहीं होती। अज्ञानी जीव यह मानता है कि नवतत्वों का विचार करते-करते भीतर गुण प्रगट होजायेंगे, किन्तु शुभभावों के द्वारा आत्मा का स्वभाव त्रिकाल में भी प्रगट नहीं हो सकता। जो सत् है वह सतरूप से ही रहेगा। त्रिकाल में भी सत् में असत्पन नहीं आसकता। नवतत्वों को राग के भेदों से रहित भूतार्थनय के द्वारा (स्वभाव की अंतरंग निर्मल दृष्टि से) जानना सो सम्यक्त्व है, इसप्रकार सर्वज्ञों ने कहा है।

यदि कोई ठीकरों का संग्रह करके उन्हें रुपया माने तो वह अज्ञानी है, इसीप्रकार जो यथार्थ वस्तु को न जानकर उससे विपरीत मार्ग में बाह्य में अपने माने हुए कार्य से संतोष माने तो वह अज्ञानी है। यदि कोई व्यवहारिक नवतत्वों की श्रद्धा से अथवा उनके विकल्प से, पुण्य से या देहादि जड़ की क्रिया से या शुभराग के आचरण से धर्म माने तो वह अपनी ऐसी विपरीत धारणा के बनाने में स्वतंत्र है किन्तु सर्वज्ञ वीतराग के अंतरंग मार्ग में वह विपरीत धारणा कार्यकारी नहीं होगी, अर्थात् उस विपरीत धारणा से कदापि धर्म नहीं होगा। शुभाशुभ भाव मोक्षमार्ग नहीं किन्तु बंधन मार्ग है, संसार में परिभ्रमण करने का मार्ग है भगवान ने रागरहित दर्शन ज्ञान चारित्र को सदभूत व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा है।

आत्मा से अभेद परमार्थ स्वरूप को समझाने के लिये पहले निमित्त-रूप से तीर्थ की (व्यवहारधर्म की) प्रवृत्ति के लिये अभूतार्थ (व्यवहार) नय से नवतत्वों के भेद किये जाते हैं कि जो इन्हें जानता है सो आत्मा है और जो नहीं जानता सो अचेतन अजीव है। कर्म के निमि-त्ताधीन जो शुभाशुभभाव होते हैं सो पुण्य-पाप के विकारीभाव हैं इसलिये वे आस्रव हैं, और उनमें युक्त होने से बंध होता है। स्वभाव को पहिचानकर स्थिर होने से संवर निर्जरारूप अवस्था होती है और

स्वभाव में पूर्णरूप से स्थिर होने से मोक्षरूप पूर्ण निर्मलदशा प्रगट होती है।

इसप्रकार नवतत्वों की परिभाषा को जाने विना परमार्थ को नहीं जाना जासकता इसलिये तीर्थ की प्रवृत्ति के लिये अनेकप्रकार के अभूतार्थ भेदों से भूतार्थ एकरूप आत्मा को कहते हैं। वास्तव में तो उससे धर्म नहीं होता तथापि उसकी उपस्थिति होती है। जब श्रद्धा में उसका अभाव करे और नवप्रकार के विकल्पों को छोड़कर एकरूप अखण्ड स्वभाव का लक्ष करे तब नवतत्व का व्यवहार निमित्त कहलाता है, वह अभावरूप से निमित्त है।

पहले यथार्थ नवतत्वों के समझने में (गुरु आदिक तो निमित्त हैं) एकत्व को प्रगट करने वाला शुद्धनय ही है। यदि स्वभावोन्मुख न हो और मात्र देव, गुरु, शास्त्र तथा नवतत्वों के शुभराग में अटक जाय तो वह पुण्य है।

सच्चे नवतत्वों की पहिचान में देव, गुरु, शास्त्र की पहिचान आजाती है। उसका स्वरूप संक्षेप में कहा है:—

जीव तत्व:—राग-द्वेष, अज्ञानरहित असंयोगी शुद्ध आत्मा को मानना सो निश्चयश्रद्धा है।

अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध इन पांच तत्वों को आत्मा के स्वभाव में नास्तिरूप मानना, वे हेयरूप हैं ऐसी श्रद्धा करना; कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र आस्रव और बंध के कारणभूत होने से हेय रूप तत्व हैं, उनकी भी हेयरूप श्रद्धा इन पांच तत्वों में आजाती है।

संवर निर्जरा:—वह निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, साधक भाव है। आचार्य, उपाध्याय, साधुरूप में जो श्रीगुरु हैं उनका स्वरूप संवर-निर्जरा मे आजाता है।

मोक्ष:—पूर्ण निर्मल अवस्था मोक्ष है, अरहंत और सिद्ध परमात्मा सर्वज्ञ वीतरागदेव हैं; उनका स्वरूप मोक्ष में आजाता है।

जिसने ऐसे नवतत्वों को नहीं जाना उनकी यहाँ बात नहीं है। वीतरागदेव के शास्त्रों से या सत्समागम से जिसने सच्चे नवतत्वों को जान लिया है तथापि यदि वह नवतत्वों के विकल्प में ही लगा रहे तो उसका संसार बना रहेगा। नवप्रकार में से शुद्धनय के द्वारा एक-रूप ज्ञायक हूँ इसप्रकार एक परमार्थ स्वभाव को ही स्वीकार करना सो सम्यक्त्व है। दान, पूजा इत्यादि शुभभाव हैं और हिंसा असत्य आदि अशुभ भाव हैं। उन शुभाशुभ भावों के करने से धर्म होता है यह मानना सो त्रिकाल मिथ्यात्व है। इससे पुण्य के शुभभाव छोड़कर पाप में जाने को नहीं कहा है। विषय-कषाय देहादि में आसक्ति, रुपया-पैसा और राग की प्रवृत्तिरूप व्यवसाय इत्यादि समस्त भावों में मात्र पापरूप अशुभ भाव हैं; और दानादि में तृष्णा की कमी अथवा कषाय की मंदता इत्यादि हो तो वह शुभभाव पुण्य है, इसप्रकार पुण्य-पाप को व्यवहार से भिन्न माने किन्तु दोनों को आस्रव जानकर उससे धर्म न माने। इसप्रकार नवतत्वों को भलीभाँति जाने तो वह शुभभाव है।

धर्म की ऐसी बात यदि धीरज से एकाग्रता पूर्वक न सुने तो मूल वस्तु यकायक समझ में नहीं आती; पश्चात् भीतर ऐसा होता है कि-यदि ऐसा मानेंगे कि ऐसे पुण्य के व्यवहार से पुण्य नहीं होता तो धर्म और पुण्य दोनों से भ्रष्ट हो जायेंगे। किन्तु सत्य को समझे बिना त्रिकाल में भी संसार का अभाव नहीं होसकता। अनादिकाल से यथार्थ वस्तु की प्रतीति के बिना जितना किया और जितना माना है वह सब अज्ञान ही है, उन सब को छोड़ना पड़ेगा। जिस भाव से अनन्तकाल से संसार का सेवन किया है वह भाव नया नहीं है। धर्म के नाम पर अंतरंगस्वरूप को भूलकर अन्य सब अनन्तबार किया है किन्तु उससे धर्म नहीं हुआ; मात्र शुभ-अशुभभाव हुए हैं किन्तु उन बंधनभावों से अंश मात्र धर्म नहीं होता। पूर्वा पर विरोध से रहित सच्चे नवतत्वों को जाने तब अभूतार्थ में (व्यवहार में) आता है, वह भी पुण्यभाव है; उससे पूर्ण परमात्म पद प्रगट नहीं होता।

जो समझने के मार्ग पर हो और जिसे समझने की रुचि हो वह सत्य को समझे बिना नहीं रहता। यथार्थ समझ ही प्रथम धर्म है और समझ के अनुसार जो स्थिरता होती है सो धर्म क्रिया है।

समस्त आत्मा एकत्रित होकर एक परमात्मा है, एक सर्व व्यापक ईश्वर है, जगत का आधार है, जगत का कर्ता है; इसप्रकार मानने वाला स्वभाव का शोधक भी नहीं है; जो सत्का जिज्ञासु नहीं है उसे अभूतार्थ के व्यवहारनय का भी ज्ञान नहीं है। भगवान ऐसे रागी नहीं हैं कि किसी को कुछ दे दें अथवा देने की इच्छा करें। किसी के आशीर्वाद से भला होसकता है अथवा किसी की प्रार्थना करने से गुण प्रगट होसकता है इसप्रकार मानना सो घोर अज्ञान है, महा पाखण्ड है, मिथ्याभ्रम है।

मात्र नव तत्वों की श्रद्धा कर के पुण्यबन्ध करे तो स्वर्ग में जाय किन्तु आत्मस्वरूप की प्रतीति के बिना वहाँ से आकर पशु इत्यादि में और फिर नरक निगोद इत्यादि गतियों में–चौरासी के भवों में परिभ्रमण करता है। सत् तो जैसा होता है वैसा ही कहा जाता है; वह दुनिया को अनुकूल पड़ता है या नहीं उसपर सत् अवलंबित नहीं होता। जिसे मानने से अहित होता हो वह कैसे कहा जा सकता है?

जैसा यहाँ कहा है उसी प्रकार नवतत्वों का और परमार्थ श्रद्धा का स्वरूप सत् समागम करके स्वयं समझे, निर्णय करे और यथार्थ प्रतीति सहित निश्चय सम्यक् दर्शन को स्वयं पुरुषार्थ से प्रगट करे तो उसमें व्यवहार श्रद्धा निमित्त कहलाती है।

आत्मा की यथार्थ पहिचान के बिना अथवा स्वरूप की प्रतीति के बिना समस्त जाती में कोई शरण नहीं है; मात्र अखंडानंद पूर्ण शुद्ध आत्मा की प्रतीति ही अपनी परम शरण है, स्वयं ही परम शरण है।

आचार्यदेव कहते हैं कि जैसा सर्वज्ञ भगवानने कहा है उसी प्रकार नवतत्वों को प्रथम सत् समागम से जानो, पात्रता को प्राप्त कर

तत्वज्ञान का अभ्यास करो, स्वाधीन स्वरूप का परिचय करो, स्वतंत्र परमार्थ को प्राप्त करने वाले शुद्धनय के द्वारा निर्मल स्वभाव की श्रद्धा करो।

नवतत्वों के विकल्प से आत्मा का यथार्थ अभेदस्वरूप नहीं समझा जासकता किन्तु यदि उस नवप्रकार के भेदरूप में नहीं हूँ इस-प्रकार विकल्प और विचार का भेद छोड़कर ऐसी श्रद्धा करे कि में त्रिकाल पूर्ण हूँ तो आत्मा का स्वभाव समझ में आसकता है। यदि आत्मा का सच्चा सुख चाहिये है तो यथार्थता को जानकर उसकी श्रद्धा करो। पुण्य-पाप के भाव धर्म की ओर के विकारी भाव है, अभूतार्थ है, आत्मा में टिकनेवाले नहीं है इसलिये वे आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसप्रकार नवतत्वों के विकल्प में अटक जाने वाले अनेक भेदों से आत्मा को पृथक् मानकर एकरूप निर्विकल्प परमार्थ भाव से अलग चुन लेना सो सम्यक्दर्शन है। शुद्ध नयाश्रत आत्मा के एकत्व का, निरपेक्ष निर्मलता का निश्चय करना चाहिये कि मैं स्वभाव से पूर्ण हूँ, एकाकार निर्मल ज्ञायक स्वभाव में निश्चल हूँ, नवतत्वों के विकल्प से रहित हूँ; इसप्रकार शुद्धनय से स्थापित आत्मा की अनुभूति जो कि आत्म ख्याति है सम्यक्दर्शन है; इसकी प्राप्ति होती है।

ऐसी श्रद्धा के बिना कि मैं अक्रिय असंग पूर्ण हूँ; भव रहितता का अनुभव नहीं होता और अतीन्द्रिय स्वानुभव के बिना स्वभाव के गुण की निर्मलता प्रगट नहीं होती। देखनेवाला और जाननेवाला स्वयं और अपने को ही नहीं जाने, और बाह्य में जो शरीर, मन, वाणी की प्रवृत्ति दिखाई देती है उसे माने, एवं उससे आगे जाइये तो पापभाव को दूर कर के दया, व्रतादि के शुभभाव करे और उसी में सम्पूर्ण धर्म मान बैठे तो उसे यथार्थ कहाँ से प्राप्त होगा!

अपने को मन के शुभाशुभ विकल्प से नवतत्वों से भिन्न एकरूप ज्ञायक ध्रुवभाव से न देखे और यदि कोई बाहर की प्रवृत्ति बताये-

पुण्य की बात करे कि कन्दमूल का त्याग कर देंगे तो धर्म होगा, तो उसे जल्दी स्वीकार करले; किन्तु यह समझे कि पुण्य-पाप से भिन्न मेरा आत्मा क्या है; तो इससे यथार्थ धर्म कैसे प्राप्त होगा ! जानने-वाला तो स्वयं है किन्तु दूसरे को जानता है और अपने को भूल जाता है ! यहाँ कन्दमूल के खाने या न खाने की बात ही नहीं है किन्तु बात तो यह है कि पापभाव को छोड़ने के लिये शुभभाव अवश्य करना चाहिये; लेकिन यह ध्यान रहे कि उससे धर्म नहीं होता ।

जिस से तर जाते हैं वह तीर्थ कहलाता है, उसका जो उपाय उपर कहा है उसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय त्रिकाल में भी नहीं होसकता । अखंड के लक्ष से नवतत्वों के शुभ राग का जो खंड होता है वह आदरणीय नहीं है, स्वभाव नहीं है; यह जानना सो भी व्यवहार है । उसका आश्रय छोड़कर, भेद का लक्ष गौण करके, उसके अभाव रूप निर्विकल्प निश्चय दृष्टि से अंतरंग में एकाग्र होकर, उस अनुभव सहित पूर्ण स्वरूप की श्रद्धा होने पर सम्यक्‌दर्शन होता है । उसे यथार्थ प्रतीति होती है कि मुझे परमात्मा के दर्शन हो गये अर्थात् पूर्ण निश्चय साध्य सिद्ध परमात्म स्वरूप का यथार्थ लक्ष प्राप्त होगया । सम्यक्‌दर्शन नहीं परमात्मा का दर्शन है ।

प्रश्नः—क्या आत्मा के साक्षात्कार में तेज (प्रकाश) दिखाई देता है ?

उत्तर:—नहीं, क्योंकि आत्मा तो अरूपी है, सदा ज्ञानानंदस्वरूप है और प्रकाश परमाणु है-पुद्‌गल की पर्याय है, रूपी है । अरूपी आत्मा में रूपी रजकण नहीं हो सकते ।

सर्वज्ञ के न्यायानुसार विरोध रहित यथार्थ वस्तु का आत्मा में निर्णय होता है, अर्थात् जैसा स्वाधीन पूर्ण स्वभाव है उसके घोषित होने का संतोष होता है कि अहो ! मैं ऐसा हूँ; मैं सम्पूर्ण ज्ञानानंद का पृथक् पिंड हूँ । प्रत्येक आत्मा इसीप्रकार परिपूर्ण है । उसकी एकाग्रता में

निराकुल स्वभाव की जो अनुपम शांति प्राप्त होती वह सहज है। यदि भीतर से पूर्ण स्वभाव का निःशंक विश्वास प्राप्त हो तो स्वभाव सम्पूर्ण खचाखच भरा ही हुआ है, उसमें से निर्मल स्थिरता और आनंद प्राप्त होता है। निमित्त के विकल्प से आनंद प्राप्त नहीं होता। यथार्थ तत्वज्ञान का अभ्यास होने के बाद अखण्ड स्वभाव के लक्ष से जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वह सामान्य स्वभाव में मिल जाती है; सम्यक्दर्शन की ऐसी परम अद्‌भुत महिमा है।

इसप्रकार शुद्धनय से आत्म सन्मुख होकर नवतत्वों का विचार करने पर एवं अखण्ड स्वभाव की ओर एकाग्र दृष्टि होने पर सम्यक्दर्शन होता है। ऐसा होनेमें यथार्थ नवतत्वों का ज्ञान निमित्त होता है इस-लिये यह नियम कहा है। किन्तु यदि अन्तरंग अनुभव से निश्चय श्रद्धा न करे तो उसे वह निमित्त नहीं होता। जिसने वीतराग के द्वारा कहे गये यथार्थ नवतत्वों को ही नहीं जाना उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है।

सम्यक्दर्शन आत्मा के अनन्त गुणों में से श्रद्धा नामक गुण की निर्मल पर्याय है। यदि श्रद्धा ज्ञान और चारित्र गुण को मुख्य करके कहा जाये तो वह गुण अनादि अनन्त है। जब उसकी शुद्ध अवस्था अप्रगट होती है तब विकारी अशुद्ध अवस्था प्रगट होती है। उस अशुद्ध अवस्था को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहते हैं। स्वभाव के लक्ष से यथार्थ श्रद्धा की निर्मल अवस्था उत्पन्न होने पर अशुद्ध अवस्था बदलकर शुद्ध होजाती है, जिसे सम्यक्दर्शन कहते हैं। सम्यक्-दर्शन के होने पर तत्काल ही चारित्र में पूर्ण स्थिरता—वीतरागता नहीं होजाती।

जैसे आम में उसकी खट्टी पर्याय के समय ही खट्टाई को नाश करने वाला मीठा स्वाद शक्तिरूप से भरा हुआ न हो तो खट्टेपन का अभाव होकर मीठापन प्रगट नहीं होसकेगा। वस्तु में जो शक्ति ही न हो वह उत्पन्न नहीं हो सकती। जो यह मानता है कि आ

मैं एकरूप ज्ञानानंद स्वभावी निर्विकार त्रिकाल ध्रुव हूँ, ऐसी दृष्टि अविकारीस्वभाव को देखती है। पुण्य पाप की क्षणिक वृत्ति निमित्ताधीन नई होती है जो कि वर्तमान में पुरुषार्थ की अशक्ति से होती है, कोई बलात् नहीं कराता। उस क्षणिक रागद्वेष विकल्प जितना ही मैं नहीं हूँ, मैं तो त्रैकालिक अखण्ड ज्ञायकस्वभाव से एकरूप रहने वाला हूँ; उसके लक्ष से विकार का नाश करके ध्रुव एकाकार स्थिर बना रहे उस अखण्ड दृष्टि का विषय सम्पूर्ण आत्मा वर्तमान में भी पूर्ण है; उसे लक्ष में लेना सो सम्यक्दर्शन है।

ध्रुव सामर्थ्य के बल से वर्तमान विकारी अवस्था का क्रमशः नाश और अविकारी आनन्दरूप से निर्मल अवस्था की उत्पत्ति होती है। बाहर से गुण अथवा उसकी पर्याय नहीं आती। पाप से बचने के लिये शुभभाव होता है किन्तु वह स्वभाव के लिये सहायक नहीं है। वर्तमान अपूर्ण अवस्था का अभाव व्यवहार में पूर्ण निर्मल अवस्था का कारण है। परमार्थ से आत्मा द्रव्य अखण्डवस्तु है, वही विकारी और अपूर्ण अवस्था का नाश करने वाला और पूर्ण निर्मल अवस्था को प्रगट करने वाला निश्चय कारण है।

विकार क्षणिक है, वह अविकारी अखण्ड नित्यस्वभाव का विरोधी है ऐसा जाने तो अपने स्वभाव को विकार का नाशक मान सकता है। विकार का निमित्त कारण (संयोगी वस्तु) अजीव-जड़ पदार्थ है; ऐसे जीव और अजीव दोनों स्वतंत्र पदार्थों की वर्तमान विकार अवस्था में निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार के संबंध से नौ अथवा सात * भेद होते हैं। एक अखण्डस्वभाव में पर की अपेक्षा के बिना नौ प्रकार के विकल्प संभवित नहीं होते। निमित्ताधीन किये जाने वाले समस्त भाव शुभ अथवा अशुभ विकल्प हैं। नवतत्व के विकल्प को भगवान ने राग कहा

---

* यदि पुण्य पाप को आस्रव से अलग माना जाय तो नव भेद होते हैं और यदि पुण्य पाप को आस्रव के अन्तर्गत माना जाय तो सात भेद होते हैं।

यदि आत्मा का स्वरूप आत्मा की ही समझ में न आये तो फिर उसे कौन समझेगा ? यह बेचारे शरीर और इन्द्रियादिक तो कुछ जानते नहीं हैं। सर्वज्ञ वीतराग ने जो कुछ कहा है वह सब जीव के द्वारा हो-सकता है, यह ज्ञान में जानकर ही कहा है। सर्वज्ञ वह बात ही नहीं कहते जो नहीं होसकती। सभी आत्मा परमात्मा के समान पूर्ण हैं, ऐसे स्वतंत्र स्वभाव की पूर्ण शक्ति को समझकर भगवान की वाणी निकली है। जिसे अपने भीतर अनुकूल नहीं पड़ता वे ऐसी धारणा की आड़ करके कि–'हमारी समझ में नहीं आसकता,' वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं समझना चाहते। इसे समझना कठिन है अथवा यह बात समझ में नहीं आसकती इसप्रकार की मान्यता ही सच्चे हितरूप स्वभाव को रोके हुए है।

पहले नवतत्व के विचार और सच्चे ज्ञान के बिना स्वभाव प्रगट नहीं होता और यदि नवतत्व के विकल्परूप विचार में लग जाये तो उस शुभराग से भी आत्मा को लाभ प्राप्त नहीं होता। नवतत्व का विचार पहले आता अवश्य है, उसके बिना परमार्थ में सीधा नहीं जा-सकता और उससे भी नहीं जासकता। जैसे आंगन में आये बिना घर में नहीं जासकते और आंगन को साथ में लेकर भी घर में नहीं जासकते, किन्तु यदि आंगन में पहुँचने के बाद उसका आश्रय छोड़कर अकेला घर में जाय तो ही जासकता है; इसीप्रकार सच्चे नवतत्वों को यथावत् न जाने और यह माने कि समझे बिना उपादान से आत्मा का विकास होजायेगा तो ऐसा कदापि नहीं बन सकता। उपादान का ज्ञान विकल्प के द्वारा होसकता है; यदि उसे जैसा का तैसा न जाने तो भूल होती है।

यदि कोई मात्र आत्मा को ही माने और आत्मा में न अवस्था को माने, न विकल्प को माने, न पुण्य–पाप को माने और नवतत्वों का व्यवहार भी न माने तो उसे त्रिकाल में भी परमार्थ की सच्ची श्रद्धा नहीं होसकती। और यदि कोई नवतत्वों को यथार्थ तो माने किन्तु साथ

तेरा स्वभाव एक ही प्रकार का है। स्वभाव भव का कारण नहीं है। भव का कारण तो पराश्रयरूप राग को अपना मानना है, वह जब नया किया जाता है तभी होता है। स्वभाव में परभाव का कर्तृत्व त्रिकाल में भी नहीं होता। जिसे निःशंक स्वभाव की प्रतीति होगई है वह पूर्ण पवित्र स्वभाव को जानता है। वह एकरूप ध्रुवस्वभाव में संसार-मोक्ष के पर्यायभेद को नहीं जानता। उसे स्वभाव का ही सन्तोष है। किन्तु जिसे स्वभाव की ओर का बल नहीं है और अन्तरंग स्वभाव की दृष्टि नहीं है उसे दूसरे की प्रीति है और इसलिये उसे भव की शंका बनी रहती है। जहाँ विरोधी भाव की प्रीति होती है वहाँ अविरोधी स्वभाव की एकाग्रतारूप प्रीति नहीं होसकती। पर्याय के भेद से नहीं तरा जासकता।

शुद्धनय से नवतत्व को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है, इस हेतु से यह नियम कहा है। जहाँ विकारी होने योग्य और विकार करने वाला दोनों पुण्य हैं, तथा दोनों पाप हैं; वहाँ विकारी होने योग्य और विकार करने वाले जीव-अजीव दोनों में दो अपेक्षायें व्यवहार से हैं। जैसे सोने में परधातु के निमित्त से अशुद्धता कही जाती है उसीप्रकार यदि अशुद्ध अवस्था से भेदरूप होने की योग्यता न हो तो पर का आरोप नहीं होसकता। जीव को वर्तमान अवस्था में पर-निमित्त से विकारी होने की और कर्म को निमित्तभूत होने की—दोनों की स्वतंत्र योग्यता है।

कर्म सूक्ष्म परमाणु है उसमें दो प्रकार से निमित्त-नैमित्तिकरूप होने की अवस्था है। जीव को विकारीभाव करने में निमित्तकारण भीतर का द्रव्यकर्म है, और शरीर आदि नोकर्म बाह्य कारण हैं। स्वयं विकारी भाव करे तो संयोग में निमित्तकारण का आरोप होता है; यदि अविकारी भाव से स्वयं स्थिर रहे तो कर्म को अभावरूप से निमित्त कहा जाता है। जो निमित्त की अपेक्षा के विना अकेला स्थिर रहता है उसे स्वभाव कहते हैं। कर्म के संयोगाधीन विकारी होने योग्य अवस्था जीव में न हो तो त्रिकाल में भी विकार नहीं होसकता। किन्तु विकारीपन स्वभाव नहीं

है। विकारी होने की योग्यता क्षणिक अवस्था है इसलिये बदली जासकती है और स्वभाव ध्रुव एकरूप ही स्थिर रहता है।

जबतक जीव विकारनाशक स्वभाव की प्रतीति नहीं करता तबतक विकार का कर्तृत्व है। जिसे पुण्य मीठा लगता है उस अज्ञानी जीव में पुराने कर्म के निमित्त से विकारी होने की और जो कर्मरूप होने की तैयारी वाले रजकण हैं उन्हें कर्मरूप होने में निमित्तरूप सिद्ध होने की योग्यता उसी जीव में है। इसप्रकार जीव की एक ही विकारी अवस्था में दो अपेक्षायें आती हैं। (१) विकारीरूप होने वाली और (२) विकार करने वाली।

जगत में अनन्त रजकण विद्यमान हैं वे सब आत्मा के विकाररूप होने में निमित्त नहीं होते। किन्तु जो रजकण पहले कर्मरूप बँध चुके हैं उन पुराने कर्मों का संयोग, जब जीव के शुभाशुभ भाव होते हैं, तब निमित्तरूप कहलाता है, और जीव के वर्तमान राग-द्वेष का निमित्त प्राप्त करके ही जिस परमाणु में बन्धरूप होने की योग्यता होती है वह नवीन कर्मरूप में बँधता है।

जीव के विकार करते समय मोहकर्म के परमाणुओं की उदयरूप प्रगट अवस्था निमित्त है; उसके संयोग के बिना विकारी अवस्था नहीं होती किन्तु वह निमित्त विकार नहीं कराता। यदि निमित्त विकार कराता हो तो न तो स्वयं पृथक् स्वतंत्र कहला सकता है और न राग को ही दूर कर सकता है। दोनों स्वतंत्र वस्तु हैं। आत्मा में कर्म की नास्ति है, जो अपने में नहीं है वह अपनी हानि नहीं कर सकता। स्वयं स्वलक्ष्य से विकार नहीं किया जासकता किन्तु विकार में निमित्तरूप दूसरी वस्तु की उपस्थिति होती है। किसी की अवस्था किसी के कारण नहीं होती। जहाँ जीव के विकारी भाव करने की वर्तमान योग्यता होती है वहाँ निमित्तरूप से होने वाला कर्म विद्यमान ही होता है।

जो रजकण वर्तमान में लकड़ीरूप होने से पानी के ऊपर तैरने की शक्ति रखते हैं उन्हीं रजकणों का पिंड जब लोहे की अवस्थारूप

तेरा स्वभाव एक ही प्रकार का है। स्वभाव भव का कारण नहीं है। भव का कारण तो पराश्रयरूप राग को अपना मानना है, वह जब नया किया जाता है तभी होता है। स्वभाव में परभाव का कर्तृत्व त्रिकाल में भी नहीं होता। जिसे निःशंक स्वभाव की प्रतीति होगई है वह पूर्ण पवित्र स्वभाव को जानता है। वह एकरूप ध्रुवस्वभाव में संसार-मोक्ष के पर्यायभेद को नहीं जानता। उसे स्वभाव का ही सन्तोष है। किन्तु जिसे स्वभाव की ओर का बल नहीं है और अन्तरंग स्वभाव की दृष्टि नहीं है उसे दूसरे की प्रीति है और इसलिये उसे भव की शंका बनी रहती है। जहाँ विरोधी भाव की प्रीति होती है वहाँ अविरोधी स्वभाव की एकाग्रतारूप प्रीति नहीं होसकती। पर्याय के भेद से नहीं तरा जासकता।

शुद्धनय से नवतत्व को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है, इस हेतु से यह नियम कहा है। जहाँ विकारी होने योग्य और विकार करने वाला दोनों पुण्य हैं, तथा दोनों पाप हैं; वहाँ विकारी होने योग्य और विकार करने वाले जीव-अजीव दोनों में दो अपेक्षायें व्यवहार से हैं। जैसे सोने में परधातु के निमित्त से अशुद्धता कही जाती है उसीप्रकार यदि अशुद्ध अवस्था से भेदरूप होने की योग्यता न हो तो पर का आरोप नहीं होसकता। जीव को वर्तमान अवस्था में पर-निमित्त से विकारी होने की और कर्म को निमित्तभूत होने की—दोनों की स्वतंत्र योग्यता है।

कर्म सूक्ष्म परमाणु है उसमें दो प्रकार से निमित्त-नैमित्तिकरूप होने की अवस्था है। जीव को विकारीभाव करने में निमित्तकारण भीतर का द्रव्यकर्म है, और शरीर आदि नोकर्म बाह्य कारण हैं। स्वयं विकारी भाव करे तो संयोग में निमित्तकारण का आरोप होता है; यदि अविकारी भाव से स्वयं स्थिर रहे तो कर्म को अभावरूप से निमित्त कहा जाता है। जो निमित्त की अपेक्षा के विना अकेला स्थिर रहता है उसे स्वभाव कहते हैं। कर्म के संयोगाधीन विकारी होने योग्य अवस्था जीव में न हो तो त्रिकाल में भी विकार नहीं होसकता। किन्तु विकारीपन स्वभाव नहीं

है। विकारी होने की योग्यता क्षणिक अवस्था है इसलिये बदली जासकती है और स्वभाव ध्रुव एकरूप ही स्थिर रहता है।

जबतक जीव विकारनाशक स्वभाव की प्रतीति नहीं करता तबतक विकार का कर्तृत्व है। जिसे पुण्य मीठा लगता है उस अज्ञानी जीव में पुराने कर्म के निमित्त से विकारी होने की और जो कर्मरूप होने की तैयारी वाले रजकण हैं उन्हें कर्मरूप होने में निमित्तरूप सिद्ध होने की योग्यता उसी जीव में है। इसप्रकार जीव की एक ही विकारी अवस्था में दो अपेक्षायें आती हैं। (१) विकारीरूप होने वाली और (२) विकार करने वाली।

जगत में अनन्त रजकण विद्यमान हैं वे सब आत्मा के विकाररूप होने में निमित्त नहीं होते। किन्तु जो रजकण पहले कर्मरूप बँध चुके हैं उन पुराने कर्मों का संयोग, जब जीव के शुभाशुभ भाव होते हैं तब निमित्तरूप कहलाता है, और जीव के वर्तमान राग-द्वेष का निमित्त प्राप्त करके ही जिस परमाणु में बन्धरूप होने की योग्यता होती है वह नवीन कर्मरूप में बँधता है।

जीव के विकार करते समय मोहकर्म के परमाणुओं की उदयरूप प्रगट अवस्था निमित्त है; उसके संगोग के बिना विकारी अवस्था नहीं होती किन्तु वह निमित्त विकार नहीं कराता। यदि निमित्त विकार कराता हो तो न तो स्वयं पृथक् स्वतंत्र कहला सकता है और न राग को ही दूर कर सकता है। दोनों स्वतंत्र वस्तु हैं। आत्मा में कर्म की नास्ति है, जो अपने में नहीं है वह अपनी हानि नहीं कर सकता। स्वयं स्वलक्ष्य से विकार नहीं किया जासकता किन्तु विकार में निमित्तरूप दूसरी वस्तु की उपस्थिति होती है। किसी की अवस्था किसी के कारण नहीं होती। जहाँ जीव के विकारी भाव करने की वर्तमान योग्यता होती है वहाँ निमित्तरूप से होने वाला कर्म विद्यमान ही होता है।

जो रजकण वर्तमान में लकड़ीरूप होने से पानी के ऊपर तैरने की शक्ति रखते हैं उन्हीं रजकणों का पिंड जब लोहे की अवस्थारूप

में होता है तब वह पानी में तनिक भी नहीं तैर सकता। इसीप्रकार पुद्गल में जिस समय जीव को विकार में निमित्त होने की और बंधने की योग्यता हुई तब अन्य अवस्था को बदलकर वह कर्मरूप अवस्था में होता है; उसरूप होने की शक्ति उसमें थी सो प्रगट होजाती है, उसमें जीव की विकारी अवस्था निमित्त है।

जब सूर्य का उदय होता है तब जो सूर्यविकासी कमल होते हैं वे ही खिलते हैं ऐसी उनकी योग्यता है; इसीप्रकार जीव के शुभाशुभ भाव का निमित्त पाकर जड़-परमाणु स्वयं कर्मरूप अवस्था धारण करते हैं, परमाणुओं में अनन्तप्रकार की अवस्थाओं के रूप में होने की शक्ति स्वाश्रित है, क्योंकि वह भी अनादि-अनंत सत् वस्तु है; उसमें अनंत प्रकार की शक्तियाँ स्वतंत्ररूप से विद्यमान हैं।

संसारी अवस्था में रहने वाले आत्मा के साथ स्थूल देह के अतिरिक्त भीतर सूक्ष्म धूल का (आठ कर्मों का) बना हुआ एक सूक्ष्म शरीर है वह कार्माण शरीर कहलाता है। कार्माण शरीर को द्रव्यकर्म भी कहते हैं। जैसे दाल, भात, साग, रोटी इत्यादि के रजकण रक्त, माँस इत्यादि अवस्थारूप में अपनी स्वतंत्र शक्ति से परिणामित होते हैं उसीप्रकार सूक्ष्म कर्मरूप होने की योग्यता जड़-रजकणों में थी जोकि अपनी शक्ति से कर्मरूप परिणमित होती है। जीव जड़ की कोई भी अवस्था नहीं कर सकता।

जीव में पुण्य-पाप के विकारी भाव करने की योग्यता है किन्तु उसके स्वभाव में वह विकार नहीं है; यदि स्वभाव में अशुद्धता हो तो वह कभी दूर नहीं होसकती। जब जीव बाह्यदृष्टि से अच्छा-बुरा मान-कर पर में अटक जाता है तभी विकार होता है, वह प्रतिसमय नया होता रहता है। दया, हिंसा आदि अनेकप्रकार से पुण्य-पाप के विकारी भाव उत्पन्न होते हैं, वे भाव स्वाधीन स्वभावरूप नहीं हैं, उन विकारी भावों का नाश करने के बाद भी सिद्ध परमात्मा में प्रतिसमय निर्विकारी

अवस्था का परिणमन रहता है, अनंतआनंद की अनुभवरूप अवस्था प्रतिसमय बदलती रहती है।

अज्ञान और राग-द्वेष विकारी अवस्था को जीव की योग्यता कहा है क्योंकि वह जीव में होती है। ऐसा नहीं होता कि कोई अन्य वस्तु आत्मा से भूल कराये अथवा उसके भावों को बिगाड़े, क्योंकि आत्मा में जड़-कर्म का और समस्त परपदार्थों का अभाव है। प्रत्येक आत्मा सदा अपनेपन से है, और पररूप से अर्थात् किसी अन्य आत्मा के रूप से अथवा जड़ कर्मरूप से या शरीरादि पररूप से या पर के कार्य-कारणरूप से त्रिकाल में भी नहीं है। तुझे परवस्तु से कोई हानि-लाभ नहीं होता क्योंकि तुझमें उसका सर्वथा अभाव है। जहाँ गुण होता हैं वहाँ उससे विपरीतरूप वाला दोष होसकता है और ध्रुव एकरूप गुण की शक्ति के आधार से दोष को बदलकर गुण भी वहीं होसकता है; इसलिये तुझे हानि पहुँचाने वाला भाव भी तेरा ही है और उस विरोधी को दूर करने वाला भी तेरा ही स्वभाव है। जिससमय अविकारी अवस्था तुझमें तेरे आधीन होती है उसी समय कर्म की अवस्था उसके कारण बदलकर अन्यरूप होजाती है, उसमें तू नास्तिरूप से निमित्त होता है। इसप्रकार तेरा निमित्त प्राप्त करने की उसमें योग्यता थी इसलिए उसकी नैमित्तिक निर्जरारूप अवस्था हुई।

परमाणु में कर्मरूप विकारी अवस्था होने की योग्यता है और जीव में जो विकारीभाव होता है उसमें उस कर्म का निमित्त बन जाने की योग्यता है। जड़कर्म में और जीव में भी निमित्त-नैमित्तिक भाव है, इसप्रकार व्यवहार से जीव-अजीव में निमित्त-उपादान का (परस्पर निमित्त-नैमित्तिकरूप होने का) सम्बन्ध है।

इसप्रकार नवतत्व के विचार रागवान हैं, इस गाथा में यह बात उठाई है; उसमें एक-एक तत्व में दो-दो प्रकार से कथन किया है। यदि बाहर की चिंता को भूलकर एकाग्रतापूर्वक ध्यान दे तो यह सब समझ में आसकता है।

जो संस्कारी जीव हैं उन्हें बारह गाथाओं में ही यथार्थ स्वरूप समझ में आसकता है, ऐसा संक्षेप में सारभूत कथन किया गया है तेरहवीं गाथा में नवतत्वों को विस्तारपूर्वक समझाया गया है। वाणी से या शुभविकल्प से समझा जाता है यह व्यवहारकथन है, मैं पर-निमित्त से समझा हूँ इसप्रकार यदि वास्तव में मानले तो मिथ्यात्व है। जीव और अजीव दोनों त्रिकाल भिन्न हैं, एक पदार्थ में पर-निमित्त की अपेक्षा से भेद होता है। पर-निमित्त के बिना मात्र तत्व में विकार या भेद संभव नहीं है।

आत्मा में वर्तमान अवस्था में जो अपूर्णता और दुःख है वह त्रिकाल-स्थायी आनन्द गुण की-सुख गुण की वर्तमान निमित्ताधीन विकारी अवस्था है। अन्तरंग स्वभाव में दुःख नहीं है, जो पराश्रित विकार है सो वर्तमान एक-एक समय की अवस्था तक ही सीमित है; उसके अतिरिक्त संपूर्ण ध्रुवस्वभाव वर्तमान में भी पूर्ण अखण्ड निर्मल है। जो वस्तु सत् है वह नित्य स्वतंत्र होती है, अविकारी होती है, और यदि उसकी वर्तमान प्रगट अवस्था भी अविकारी ही हो तो आकुलता नहीं होसकती, किंतु वर्तमान अवस्था में आकुलता है इसलिये दुःख है। एक-एक समयमात्र की स्थिति से वर्तमान अवस्था में निमित्ताधीन भाव करने से आकुलता होती है। अपने स्वभाव की प्रतीति के कारण अनादिकाल से निराकुल शांति को छोड़कर जीव आकुलता का दुःख भोग रहा है।

विकार में पर-संयोग की निमित्तमात्र उपस्थिति है और अज्ञान-भाव से निमित्ताधीन होने की योग्यता अपनी है। परान्मुख होने से जीव में विकारी अवस्था होती है। जहाँ गुण ही नहीं होता वहाँ उस गुण की कोई अवस्था भी नहीं होती। जैसे लकड़ी में क्षमा गुण नहीं है इसलिये उससे विपरीत अवस्था क्रोध भी उसमें नहीं है। जहाँ गुण हो सकता है वहीं उस गुण की विकारी अथवा अविकारी अवस्था निज से हो सकती है; तथापि कभी भी गुण में दोष घुस नहीं जाते। गुण तो सदा एकरूप निर्मल रहते हैं। जिसे ऐसे त्रिकालस्वभाव का ज्ञान

नहीं है वह अपने में अपने ध्रुव अविकारी स्वभाव का अस्तित्व नहीं देखता और इसीलिये वह त्रिकाल एकरूप अखंड स्वभाव को नहीं मानता, प्रत्युत वर्तमान निमित्ताधीन विकार की प्रवृत्ति को ही देखता है।

आत्मा अखंड अक्रिय ज्ञानानंदरूप से ध्रुव है, उसका स्वभाव एक-रूप अक्रिय है, उसे न देखकर वर्तमान अवस्था के पुण्य-पाप की क्रिया के शुभाशुभ विकार को देखता है; किन्तु वह पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्ति स्वभाव में नहीं है-स्वभावाधीन भी नहीं है, वह क्षणिक अवस्था निमित्ता-धीन है। उस विकारी अवस्था का नाशक अपना ज्ञायक स्वभाव अविकारी ध्रुव है; इसे जो नहीं मानता उसे सम्यक्दर्शन नहीं होसकता। ज्ञानी क्षणिक विकारी अवस्था पर भार नहीं देता, उसकी रुचि की प्रबलता तो मात्र अविकारीपन पर होती है और वह उस स्वभाव के बल से स्थिर होने के कारण विकार का नाश करता है। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से है और पर-वस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से नहीं है। प्रत्येक आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावरूप से है जोकि निम्नप्रकार है:—

द्रव्यः—अपने अनन्त गुण-पर्याय का अखण्ड पिण्ड।

क्षेत्रः—अपना विस्ताररूप आकार (असंख्य प्रदेशी)

कालः—अपनी वर्तमान होने वाली प्रगट अवस्था।

भावः—अपने अनंत गुण अथवा त्रैकालिक शक्ति।

इसप्रकार प्रत्येक वस्तु अपनेरूप से है, पररूप से नहीं है। किसी के गुण अथवा अवस्था किसी दूसरे द्रव्य के कारण अथवा कार्यरूप से नहीं है, सहायक नहीं है। यदि यह माने कि पर-निमित्त से अपना कार्य होता है तो यह पर को और आत्मा को एक मानना कहलायेगा जोकि एकान्तदृष्टिरूप मिथ्यात्व है। शुभभाव से गुण-लाभ होता है इस मान्यता का अर्थ यह है कि राग मेरी सहायता करता है और जो यह मानता है वह अपने पृथक् गुणों को नहीं मानता, किन्तु रागरूप

विकार और अपने अविकारी स्वभाव को एक मानता है; और इसलिये वह भी एकान्तदृष्टिरूप मिथ्यात्व है।

प्रत्येक वस्तु अकारण स्वतंत्र है। परवस्तु के साथ व्यवहार से भी कार्य-कारण संबंध नहीं है। प्रत्येक वस्तु की निमित्त-नैमित्तिक भावरूप अवस्था स्वतंत्ररूप से होती है। किसी का बनना बिगड़ना किसी पर के आधीन नहीं है। जिसे हित करना हो उसे प्रत्येक वस्तु का ज्यों का त्यों अस्तित्व और स्वातंत्र्य मानना होगा।

अल्पज्ञ को नवतत्वों का विचार करने में द्रव्यमन* निमित्त तो है किन्तु भीतर ज्ञान की विचार-क्रिया मन की सहायता से नहीं होती। भीतर गुण में उपादान की शक्ति है, वही शक्ति कार्य करती है। ज्ञान की जैसी तैयारी हो वहाँ सम्मुख वैसी ही अन्य जो वस्तु उपस्थित हो उसे निमित्त कहते हैं जोकि व्यवहार है, किन्तु यह मानना कि निमित्त से काम होता है सो नयाभास है। निमित्त है अवश्य, उसे जानने का निषेध नहीं करते, किन्तु ऐसा मानने से वस्तु पराधीन सिद्ध होती है कि उससे काम होता है या उसकी सहायता आवश्यक है। अपूर्ण ज्ञान के कारण और राग के कारण क्रम होता है, उसमें मन का अवलम्बन निमित्त है। पंचेन्द्रिय के विषय वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, और शब्द हैं, उनकी ओर के झुकाव को छोड़कर जब आत्मा नवतत्व इत्यादि का विचार करता है तब उसमें विचार करना सो ज्ञान की क्रिया है, जड़-मन की नहीं। शुभाशुभ विकल्परूप राग का भाव जीव में होता है, जड़ में नहीं। जड़-कर्म तो निमित्त है। नवतत्व का विचार क्रमशः होता है, मात्र स्वभावभाव से ज्ञान कार्य कर रहा हो तो क्रम नहीं होता। इन्द्रियों के विषय बन्द होजाने पर भी मन के योग से ज्ञान में भेद होजाते हैं, इससे सिद्ध हुआ कि मन भिन्न वस्तु है। मन ज्ञान से भिन्न वस्तु है यह बात ज्ञान से निश्चित हो

---

* वक्षस्थल के मध्य भाग में आठ पंखुड़ियों वाला विकसित कमल के आकार रजकणों से निर्मित द्रव्यमन है।

सकती है । नवतत्व का विचार पंचेन्द्रिय का विषय नहीं है, और अकेला ज्ञान मन के अवलम्बन के बिना कार्य करे तो एक के बाद दूसरे विचार का क्रम न हो, क्योंकि क्रम होता है इसलिये बीच में मन का अवलम्बन होता है । विचार में उसका अवलम्बन होता है किन्तु ज्ञान उसके आधीन नहीं है; ज्ञान तो स्वतंत्र है ।

'मैं आत्मा हूँ' इस विचार में ऐसा अर्थ निहित है कि 'मैं कहीं भी हूँ तो अवश्य' पहले अज्ञानदशा में अपने अस्तित्व को पर में मान रखा था और परवस्तु पर लक्ष करके विकारोन्मुख होरहा था, उस पर-विषय से हटने और स्वविषय में स्थिर होने के लिये पहले ऐसे नवतत्व का विचार करना होता है कि 'मैं जीव हूँ, अजीव नहीं हूँ' मन का योग हुए बिना नवतत्व का विचार नहीं होसकता, किन्तु द्रव्य-मन विचार नहीं करता, विचार तो भावमन से ही होता है । इस बात को भलीभाँति समझना चाहिये ।

यहाँ पहले सम्यक्‌दर्शन के लिये चित्तशुद्धि के आँगन में आने की बात चल रही है। पहले अज्ञानदशा में (व्यवहार की अशुद्धि में) जो दूसरे पर गुण-दोष का आरोप कर रहा था वहाँ से हटकर अपने आँगन में (व्यवहारशुद्धि में) आगया है; उसके बाद पूर्व धारणा बदल जाती है और वह यह समझने लगता है कि विश्व में मेरे अतिरिक्त मुझे लाभ या हानि करने वाला कोई नहीं है। ऐसी मान्यता होने पर अनंत परवस्तु में कर्तृत्व की भावना नहीं रहती, और इसलिये तीव्र आकुलता दूर होजाती है।

व्यवहारशुद्धि की योग्यता में निम्नलिखित तीन प्रकार होते हैं:- (१) संसार की ओर का विचार बन्द करके, पंचेन्द्रिय के विषय के तीव्र राग से हटकर, मनशुद्धि के द्वारा यथार्थ नवतत्व की भूमिका में आजाना सो अपनी योग्यता है। (२) अपनी वर्तमान योग्यता और निमित्त की योग्यता की उपस्थिति को स्वीकार किया कि परवस्तु मुझे भूल में नहीं

डालती, किन्तु जब मैं परलक्ष्य से विकार करता हूँ तब मेरी ही योग्यता से भूल और विकार क्षणिक अवस्था में होता है; इस पाप के निमित्त से और विकल्प से किंचित् हटकर अपनी अवस्था के शुभव्यवहार में आगया, वह पुण्यभाव पूर्व का कोई कर्म नहीं कराता. यह निमित्त की अशुद्धता है। (३) निमित्तरूप जो देव, गुरु, शास्त्र हैं सो परवस्तु हैं; मेरी योग्यता की तैयारी हो कि वहाँ सच्चे देव-गुरु का निमित्त अपने स्वतंत्र कारण से उपस्थित होता है। तीर्थ-रूप व्यवहार से दूसरे को मोक्षमार्ग बताते हुए परमार्थ की श्रद्धा के लिये पहले नवतत्व के भेद करना पड़ते हैं; उस भेद से अभेद गुण में नहीं पहुँचा जाता, किन्तु अपनी निज की तैयारी करके जब अखण्ड रुचि के बल से यथार्थ निर्मल अंश का उत्पाद और विकार तथा भूल का नाश करता है तब अपने उन भावों के अनुसार निमित्त को (देव गुरु शास्त्र अथवा नवतत्व के भेदों को) उपचार से उपकारी कहा जाता है। यदि स्वत: न समझे तो अनन्तकालीन संसार संबंधी पराश्रयरूप व्यवहाराभास ज्यों का त्यों बना रहेगा।

प्रत्येक वस्तु की अवस्था निज से ही स्वतंत्रतया बदलती रहती है। किसी की अवस्था में कोई निमित्त कुछ नहीं कर सकता, दोनों पदार्थों की स्वतंत्र योग्यता को माने तब व्यवहार-पुण्यपरिणामरूप नवतत्वों की शुद्धि के आँगन में आया जाता है, और उस नवतत्व के विचार में से मात्र अविकारी स्वभाव को मानना सो सम्यक्दर्शन है। निमित्त-नैमित्तिकता अवस्था को लेकर व्यवहार से है; द्रव्य, द्रव्य का निमित्त व्यवहार से भी नहीं है।

पुराने कर्म की उपस्थिति का निमित्त पाकर (उसके उदय में युक्त होने से) जो शुभभाव किये जाते हैं उसमें अजीव निमित्त, और जीव की योग्यता उपादान होती है; और वह भावपुण्य है। दया, दान इत्यादि के शुभभाव का निमित्त पाकर जिन परमाणुओं में पुण्य बंधरूप होने की योग्यता थी वे उसके कारण से पुण्यबंधरूप हुए उसमें शुभभाव

(जीव) निमित्तकारण और पुद्गल परमाणुओं में पुण्यरूप होने की जो योग्यता है सो (अजीव की योग्यता) उपादान है; उसे द्रव्यपुण्य कहते हैं। इसप्रकार पाप-तत्व की बात भी समझ लेनी चाहिये।

भावपुण्य और भावपाप जीव की अवस्था में होते हैं तथा द्रव्य-पुण्य और द्रव्यपाप पुद्गल की अवस्था है। जिस रजकण में पुण्य-पापरूप कर्मबंध होने की योग्यता थी वह उसके द्रव्य की शक्ति से उसरूप हुआ और उसमें जीव की रागादिरूप विकारी अवस्था निमित्त हुई। इसप्रकार राग के निमित्त का संयोग पाकर द्रव्यकर्मरूप होने वाले जड़-परमाणु स्वतंत्र हैं। पूर्वबद्ध कर्मों का पाक (उदय) होने पर आत्मा उस ओर उन्मुख होकर निज लक्ष्य को भूल गया और अज्ञान-भाव से पुण्य-पाप के भाव किये अर्थात् विकारी होने की योग्यता आत्मा की है। इसप्रकार दो तरह की योग्यता अपने में और दो तरह की अवस्था सामने संयोग होने वाले पुद्गल-परमाणु में है।

जो यह कहता है कि जड़-कर्म मुझे विकार कराते हैं वह अपने को पराधीन और अशक्त मानता है। और दो तत्वों को (जीव और कर्म को) एक मानता है।

यदि कोई अज्ञानी यह कहे कि जैनधर्म में स्याद्वाद है इसलिये कभी तो जीव स्वयं विकार करता है और कभी कर्म विकार कराते हैं, कभी निमित्त से हानि-लाभ होता है और कभी नहीं होता; तो यह बात बिल्कुल मिथ्या है। स्याद्वाद का ऐसा अर्थ नहीं है। अरे ! ऐसा 'फुदड़ीवाद' जैनधर्म में हो ही नहीं सकता। कोई वस्तु त्रिकाल में भी पराधीन नहीं है, जब स्वयं गुण-दोषरूप अपनी अवस्था को करता है तब निमित्त पर आरोप करने का व्यवहार लोकप्रसिद्ध है; किन्तु वह झूठा है। लोगों में ऐसा कहा जाता है कि यह घी का घड़ा है और यह पानी का घड़ा है, किन्तु घड़ा, मिट्टी का अथवा पीतल इत्यादि का होता है।

दूसरे से गुण-लाभ होता है, दूसरे की सहायता आवश्यक है इस-प्रकार जिसने माना है उसे यह सब समझना कठिन है, क्योंकि उसने पुण्य-पाप को अपना ही मान रखा है। परन्तु पुण्य-पाप विकार हैं, व्रतादि के शुभराग से पुण्यबंध होता है किन्तु उस विकारी भाव से त्रिकाल में भी धर्म नहीं होता। जीव की वह विकारी अवस्था है और विकार के होने में पर-निमित्त है, किन्तु विकार ऊपरी दृष्टि से निमित्त होता है। विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है इसलिये आदरणीय नहीं है, ऐसा जानाना सो भी व्यवहार है। अवस्थादृष्टि को गौण करके एक; रूप अविकारी ध्रुवस्वभाव के बल से अर्थात् निश्चयनय के आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट होकर सहज ही विकार का नाश हो जाता है। स्वभाव में विकार का नाश करने वाली और अनंतगुनी निर्मलता उत्पन्न करने वाली अपारशक्ति भरी हुई है; उसके बल को निमित्ताधीनदृष्टि-वाला कहाँ से समझ सकता है?

विकारी अवस्था में निमित्तभूत पूर्वकर्म का संयोग केवल उपस्थिति मात्र है, यदि मैं उसमें विकार भाव से युक्त होऊँ तो वह निमित्त कहला-येगा और यदि स्वरूप में स्थिर रहूँ तो वही कर्म अभावरूप निर्जरा में निमित्त कहलायेगा। इसप्रकार संयोगरूप परवस्तु में–निमित्त में उपादान के भावानुसार आरोप होता है।

यदि कोई कहे कि निमित्त होगा तो तृष्णा को कम करने का (दया, दान इत्यादि का) भाव होगा, अथवा कोई कहे कि यदि उसके भाग्य में प्राप्ति लिखी होगी तो मुझे दान देने का भाव उत्पन्न होगा, तो यह दोनों धारणाऐं मिथ्या हैं। जब स्वयं अपनी तृष्णा को कम करना चाहे तभी कम कर सकता है। बाह्य-संयोग की क्रिया अपने अधीन नहीं है किन्तु तृष्णा को कम करने का शुभभाव तो स्वयं अपने पुरुषार्थ से चाहे जब कर सकता है। अपने भाव में तृष्णा को कम करे तो दानादिक कार्य सहज ही होजाते हैं। यह विचार मिथ्या है कि अमुक व्यक्ति के पास पैसा जाना होगा तो मेरे मन में दान

करने के भाव होंगे, अथवा अमुक व्यक्ति बचने वाला होगा तो मेरे मन में दया के भाव आयेंगे; क्योंकि अशुभभाव को बदलकर स्वयं चाहे जब शुभभाव कर सकता है।

जो नवतत्वों को यथार्थ समझने में अपनी बुद्धि नहीं लगाता वह पर से भिन्न भगवान चिदानंद आत्मा का निःसंदेह निर्णय करने की शक्ति कहाँ से लायेगा ? सच्चे नवतत्वों के आँगन में आये बिना परिपूर्ण स्वभाव की यथार्थ स्वीकृति नहीं होसकती। मन की शुद्धिरूप नवतत्वों को जानने के बाद उन नव के विकल्प के व्यवहार का चूरा करके निमित्त और विकल्प का अभाव करे तब भेद का लक्ष्य भूलकर एकरूप स्वभाव में आया जासकता है। निमित्त और अवस्था को यथावत् जानना चाहिये, किन्तु उसका आदर नहीं करना चाहिये, उस पर भार नहीं देना चाहिये।

जो ऐसा मानता है कि पर से हिंसा या अहिंसा होती है वह दो तत्वों की स्वतंत्रता या पृथक्ता को नहीं मानता। वास्तव में पर से हिंसा नहीं होती किन्तु आयु के क्षय होने से जीव मरता है, किन्तु उसे मारने का जो अशुभभाव आत्मा ने किया वही आत्मा के गुणों की हिंसा है। कोई शत्रु अथवा कोई भी वस्तु पाप का भाव कराने के लिये समर्थ नहीं है, किन्तु जब आत्मा पापभाव करता है तब उसकी उपस्थिति होती है। प्रत्येक वस्तु का उपादान अपनी सामर्थ्यरूप स्वतंत्र शक्ति से है, उसका कार्य होने के समय बाह्य-संयोगरूप निमित्त अपने ही कारण से उपस्थित होता है। दोनों स्वतंत्र है; ऐसे निर्णय की एक ही कुँजी से उपादान-निमित्त के सभी ताले खुल जाते हैं। किसी वस्तु का कार्य होते हुए उस समय साथ में दूसरे की उपस्थितिमात्र होती है जिसे सहकारी निमित्त कहते हैं, किन्तु उसकी प्रेरणा सहायता अथवा कोई प्रभाव नहीं होता।

जीव की अवस्था जीव की योग्यता के कारण होती है। वह जब परोन्मुख होकर रुक जाता है तब रजकण स्वयं ही अपनी योग्यता के

कारण बँध जाते हैं और जब वह स्वोन्मुख होकर रुक जाता है और गुण का विकास करता है तब रजकण अपने ही कारण से पृथक् होजाते हैं। उन रजकणों की किसी भी अवस्था को आत्मा नहीं कर सकता और आत्मा का कोई भाव रजकणों को नहीं बदल सकता दोनों की स्वतंत्र अवस्था अपने-अपने कारण से है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्रता को स्वीकार करना सो व्यवहारशुद्धि है।

जड़ और चेतन सम्पूर्ण वस्तुओं की अवस्था अपने-अपने आधार से होती है। किसी भी वस्तु की कोई अवस्था पर के आधार से कभी नहीं होती, कोई किसी पर प्रभाव अथवा प्रेरणा भी नहीं कर सकता; इसप्रकार मानना सो सम्यक्-अनेकान्तरूप वीतराग धर्म है। यदि यह मान जाय कि निमित्त के प्रभाव से किसी की अवस्था होती है तो व्य-वहार स्वयं ही निश्चय होगया, क्योंकि उसमें त्रिकालस्थायी अनंत सत् को पराधीन और निर्माल्य माननेरूप मिथ्याएकान्त अधर्म है।

पुराने कर्मोदय में युक्त होकर जीव पुण्य-पाप के जो विकारीभाव करता है सो भावास्रव है, और उस भाव का निमित्त पाकर पुण्य-पाप रूप-कर्मरूप होने की योग्यता वाले रजकण जीव के पास एक क्षेत्र में आते हैं सो वह द्रव्यास्रव है। जीव पुण्य-पाप के आस्रवरूप जैसे भाव करता है उसका निमित्त प्राप्त करके उसी अनुपात में वैसे ही पुण्य-पापरूप रजकणों का बंध होता है। इसप्रकार व्यवहार से दोनों परस्पर निमित्त और नैमित्तिक हैं। यद्यपि जड़ रजकणों को कोई ज्ञान नहीं होता और वे जीव का कुछ भी नहीं करते किन्तु अज्ञानी मानता है कि उनका मुझ पर असर होता है और मेरे द्वारा जड़ का यह सब कार-भार होता है, मैं ही कर्म की पर्याय को बाँधता हूँ और मैं ही छोड़ता हूँ।

जिसप्रकार तराजू के एक पलड़े में एक सेर का बांट रखा हो और दूसरी ओर ठीक एक सेर वजन की वस्तु रखी जाय तो उस तराजू की डण्डी ठीक बीच में आकर स्थिर होजाती है, उसमें उसे ज्ञान की

आवश्यकता नहीं होती, इसीप्रकार शुभाशुभ कर्मों में भी ऐसी ही विचित्र योग्यता है। जड़कर्मों में ज्ञान नहीं होता तथापि जीव जैसे रागादि भाव करता है वैसे ही निमित्तरूप प्रस्तुत जड़-रजकण अपने ही कारण से कर्मरूप अवस्था धारण करते हैं–उनमें अपनी ऐसी योग्यता होती है। जड़वस्तु में अपनी निज की अनन्तशक्ति है, और वह अनन्तशक्ति अपने प्रति है। रजकण एकसमय में शीघ्रगति करके नीचे के अंतिम सातवें पाताल से उठकर ऊपर चौदहराजु लोक के अग्रभाग तक अपने आप चला जाता है। उसकी शक्ति जीव के आधीन नहीं है, तथापि स्वतंत्र भाव से ऐसा निमित्त-नैमित्तिक मेल है कि जहाँ जीव के राग-द्वेष का निमित्त होता है वहाँ कर्मरूप बँधने योग वैसे रजकण विद्यमान होते हैं। दूध के मीठे रजकण दहीरूप में खट्टे होजाते हैं सो वे अपने स्वभाव से होते हैं, उन्हें कोई करता नहीं है। लकड़ी तैरती है और लोहा डूब जाता है वह उस समय की पुद्गल की अपनी ही अवस्था का स्वभाव है। आत्मा का भाव आत्मा के आधीन और जड़ की अवस्था जड़ के आधीन है, तथापि मात्र एकाकी स्वभाव में विकार नहीं होसकता। इसप्रकार दो स्वतंत्र पदार्थों में व्यवहार से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है और परस्पर एक क्षेत्रावगाहरूप संयोग होता है, तथापि एक दूसरे की अवस्था को कर सकने योग्य सम्बन्ध नहीं है; ऐसा मानना सो अभूतार्थ-नय (व्यवहार) को स्वीकार करना कहलायेगा। निमित्त और विकारी योग्यतारूप अवस्था को स्वीकार करने के बाद, पूर्ण अविकारी ध्रुवस्वभाव को देखना मुख्य रहता है। स्वभाव के बल से भीतर से निर्मल अवस्था प्रगट होती है, बारंबार अखण्ड निर्मल, एकाकार ज्ञायकस्वभाव की दृढ़ता के बल की रटन होती है। यह सम्यक्दर्शन और संवर होने की पहली बात है।

आत्मा का स्वभाव पुण्य-पाप के क्षणिक विकारीभाव का नाशक है यह जानकर उसके आश्रय से संवरभाव को प्रगट करने की अपनी योग्यता होती है। यह मानना पाखण्ड है कि अच्छे संयोग मिलें और

कर्म मुझे मार्ग दें तब धर्म करने की सूझे। जिसकी ऐसी विपरीत धारणा है कि भाग्य में अच्छा होना लिखा होगा तो धर्म होगा उसे स्वतंत्र धर्मस्वभाव की खबर ही नहीं है। अखण्ड स्वभाव में अपार गुणों की पूर्ण शक्ति भरी हुई है, उसके विश्वास से निर्मल पर्याय की उत्पत्ति और विकारी पर्याय का सहज नाश होता है।

लोग अनादिकाल से यह मानते हैं कि देहादि की क्रिया तो हम करते हैं, किंतु अनन्तज्ञानी निःशंकतया यह घोषित करते हैं कि शरीर की एक अँगुली हिलाने की भी किसी आत्मा की शक्ति नहीं है, आत्मा मात्र अपने में ही हित या अहित अथवा ज्ञान या अज्ञान कर सकता है। जबतक जीव को यह बात समझ में नहीं आयेगी तबतक अपने स्वभाव में विरोधी मान्यता बनी ही रहेगी।

निरावलम्बी एकरूप स्वभाव के बल से अशुद्धता रुक जाती है सो भावसंवर है, यह योग्यता आत्मा की है। और पुद्गल परमाणुओं का नये कर्मों के रूप में होना रुक जाय सो द्रव्यसंवर है; यह योग्यता जड़ की है। यदि पाप का भाव करे तो उदयरूप कर्म को पापभाव में निमित्त कहा जाता है, और यदि स्वभाव का आश्रय करे तो उसी कर्म को संवर करने वाले निमित्तरूप का आरोप होता है। इसप्रकार अपने भावानुसार निमित्त में आरोप करने का व्यवहार है। दोनों में परस्पर निमित्ताधीन अपेक्षा से और स्वतंत्र उपादान की योग्यता से संवार्य (संवर-रूप होने योग्य) और संवारक (संवर करने वाला) ऐसे दो भेद हो जाते हैं।

मात्र निरपेक्ष स्वभाव में नवतत्व के भेदरूप विचार का क्रम नहीं होता, और विकल्प के भेद नहीं होते। निमित्त और अपनी विकारी अवस्था ज्यों की त्यों जानने योग्य हैं, किंतु वह आदरणीय नहीं हैं। नवतत्व के विचाररूप शुभभाव भी सहायक नहीं हैं, इसप्रकार जानना सो व्यवहारनय को स्वीकार करना है।

प्रत्येक वस्तु में अनादि-अनन्त स्वतंत्र गुण हैं। परमाणुरूप वस्तु में स्पर्श, रस, गंध इत्यादि गुण अनादि-अनन्त स्वतंत्र हैं। गुण स्थिर रहते हैं और गुणों की अवस्था में परिवर्तन होता है, अवस्था में परिवर्तन होना अपने-अपने आधीन है। प्रत्येक आत्मा में ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, वीर्य इत्यादि गुण अनादि-अनन्त विद्यमान हैं। उसकी अवस्था का बदलना अपने आधीन है। आत्मा अनेक प्रकार के विकारी भावों को अलग करदे तब भी अविकारी एकरूप रहकर अवस्था को बदलने का स्वभाव रहता है।

आत्मा के स्वभाव में कभी कोई अंतर नही पड़ता इसलिये उसमें पर-निमित्त की अपेक्षा का भेद नहीं होता, किन्तु मैं रागी हूँ, मैं पर का कर्ता हूँ, पर मुझे हानि-लाभ कर सकता है ऐसी मान्यता से अवस्था में स्वभाव का विरोधी विकार हुआ करता है, वैसे भाव जब स्वयं करे तब होते हैं। वे क्षणिक विकार गुणों की विपरीत अवस्था से नवीन होते हैं, वह विपरीत अवस्था ही संसार है, जड़ में अथवा परवस्तु में संसार नहीं है। आत्मगुणों की सम्पूर्ण निर्मलता मोक्ष है, और स्वभावोन्मुख होने वाली अपूर्ण निर्मल अवस्था मोक्षमार्ग है। उसमें नवीन गुण प्रगट नहीं होते किन्तु गुणों की विपरीत अवस्था बदलकर प्रतिक्षण निर्मल अवस्था प्रगट होती जाती है। गुण त्रिकाल एकरूप ध्रुव है, उसकी पर्याय बदलती रहती है। विपरीत धारणा बदलकर सीधी धारणा ध्रुवस्वभाव के आधार से होती है। निमित्त के लक्ष्य से अथवा अवस्था के लक्ष्य से निर्मलदशा प्रगट नहीं होती किन्तु उलटा राग होता है।

आत्मा में दया, दान, भक्ति इत्यादि के शुभभाव तथा हिंसा, तृष्णा आदि के अशुभभाव करने की उपादानरूप योग्यता है, और उसमें निमित्तरूप होने की जड़कर्म में योग्यता है, किन्तु उपादान और निमित्त दोनों स्वतंत्र हैं, ऐसा स्वीकार करने पर दूसरे पर दोष डालने का लक्ष्य नहीं रहता; मात्र अपने ही भाव देखने होते हैं। कोई परवस्तु मुझमें

पुण्य-पाप आदि के भाव नहीं कराती। परवस्तु मेरी तृष्णा को कम या अधिक नहीं कर सकती, तथा मैं किसी अन्य को बचा या मार नहीं सकता इसप्रकार कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता, किन्तु मात्र वैसे भावरूप रागद्वेष–अज्ञान कर सकता है अथवा रागद्वेष को दूर करके ज्ञान कर सकता है। आत्म के कोई भाव वाह्य-प्रवृत्ति से नहीं होते।

यदि कोई कहे कि जैसे वाह्य-निमित्त मिलते हैं वैसे भाव होते हैं–जव वाहर बुरे निमित्त मिलते हैं, शरीर में रोग इत्यादि होता है तव अशुभभाव होते हैं; और जव वाह्य में धन, पुत्र, निरोगता, अनुकूलता इत्यादि होती है तव शुभभाव होते हैं; तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। जो इसप्रकार मानता है वह यह नहीं मानता कि वह स्वयं पर से भिन्न स्वतंत्र है। परवस्तु का क्षेत्रान्तर, भावान्तर अथवा अवस्थान्तर त्रिकाल में भी किसी के अधीन नहीं है। जो वस्तु पराधीन है वह सत् ही नहीं कही जासकती।

जिसे व्यवहार से यथार्थ नवतत्व भी समझ में नहीं आसकते उसे नवतत्वों के विकल्प का अभाव करके एकाकार परमार्थ में आने का अवकाश नहीं है। अनन्तबार वीतराग धर्म के नाम पर उत्कृष्ट क्रिया अथवा शुभभाव करके जो जीव नव-ग्रैवेयक तक गया उसने नवतत्वों के भेद को तथा देव, गुरु, शास्त्र को तो यथावत् माना था, उसके नग्न दिगम्बर दशा और निरतिचार पंचमहाव्रत भी थे, तथापि उसे एकमात्र स्वतंत्र तत्व की अंतरंग में ऐसी श्रद्धा नहीं हुई कि मैं विकल्प-रहित हूँ, उद्भूत शुभवृत्ति भी मेरा स्वरूप नहीं है, वह मुझे सहायक नहीं है, मैं तो चिदानंद ज्ञानमूर्ति हूँ; इसलिये उसे धर्म प्राप्त नहीं हुआ।

व्यवहारश्रद्धा में जिसकी भूल है, जिसे प्राथमिक चित्तशुद्धि के सच्चे निमित्त की पहिचान नहीं है, उसके परमार्थश्रद्धा करने की शक्ति नहीं है, परमार्थ की श्रद्धा के विना जन्म-मरण को दूर करने का उपाय नहीं होसकता। निमित्तरूप व्यवहारशुद्धि के आँगन में आ खड़ा हो तो

पुण्यबंध होसकता है किन्तु भवभ्रमण कम नहीं होसकता। जिस जीव को सर्वज्ञ-कथित सच्चे नवतत्वों की तथा सच्चे देव गुरु शास्त्र की व्यवहार से यथार्थ पहिचान नहीं है वह मिथ्यादृष्टि का भी उच्चपुण्य नहीं बांध सकता; क्योंकि जिसके पुण्य के निमित्त भी अपूर्ण हैं अथवा मिथ्या हैं उसके पुण्य के भाव भी पापानुबंधी पुण्य वाले अपूर्ण होते हैं।

राग को दूर करके निर्मल अवस्था उत्पन्न करने के लिए ध्रुव एकरूप स्वभाव में त्रिकाल शक्ति भरी हुई है, उसका अवलम्बन एक वीतराग-भावरूप होता है, जबकि राग के अनेक प्रकार होने से राग के अवलंबन भी अनेक प्रकार के होते हैं। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र तथा स्त्री, कुटुम्ब, देहादि सब अशुभराग के अवलंबन हैं। कुदेव आदि को मानने वाला कभी अशुभराग को अत्यधिक कम करदे तथापि वह बारहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जासकता, और सच्चे नवतत्वों के भेद तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को मानने वाला उत्कृष्ट शुभभाव करे तो नवमें ग्रैवेयक तक जाता है। जीव राग के पक्ष से न छूटे और यथार्थ श्रद्धा न करे तबतक वह चौरासी लाख के जन्म-मरण में परिभ्रमण करता रहता है।

जो यह मानता है कि सम्यक्त्व गुण और संवर होने की योग्यता गुरु देदेंगे, और गुरु की प्रेरणा से मुझमें गुण का विकास होजायगा वह स्वतंत्रता को ही नहीं मानता। जो दूसरे से सहायता और दूसरे से हानि-लाभ मानता है वह अपनी स्वतंत्रता की शक्ति को नहीं समझता और उसने अपने स्वभाव को यथार्थतया नहीं जाना है। सम्यक्त्व होने से पूर्व और पश्चात् जहाँतक वीतरागी स्थिरता न हुई हो वहाँ तक शुभराग में निमित्त (देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि) की ओर का लक्ष्य रहता है, उसे ज्ञानी धर्म के खाते में नहीं डालते। पहले से ही अनादि-काल से माना गया (पर-निमित्त से धर्म होता है) खोटा खाता बदलने की आवश्यक्ता है।

निर्जरण के योग्य और निर्जरा करने वाले जीव-अजीव दोनों हैं उनमें से शुभाशुभरूप अशुद्धभाव को नाश करने की स्वतंत्र योग्य जीव की है। आत्मा के ध्रुवस्वभाव के लक्ष्य से अशुद्धता का अंशत दूर होजाना और शुद्धता की अंशतः वृद्धिरूप अवस्था का होना सह होता है, वह भावनिर्जरा है। अशुद्धता में जो निमित्त कर्म था उ कर्म में दूर होने की योग्यता उसके कारण होकर जो निर्जरण योग रजकणों की अवस्था बदली सो द्रव्यनिर्जरा है।

प्रभु ! तेरी महत्ता के गुण गाये जारहे हैं। अनंतकाल में अनंत बार नवतत्व के आँगन तक गया किन्तु भीतर प्रवेश किये बिना अपने आँगन से वापिस आया है। चित्तशुद्धि के आँगन में जा पड़ता है (नवतत्व का भेदरूप ज्ञान करना पड़ता है) किन्तु आँगन साथ लेकर घर में प्रवेश नहीं किया जाता।

समयसार परम अद्भुत ग्रंथ है। अब एक भी भव नहीं चाहि ऐसी सावधानी के साथ पात्र होकर सत् समागम से जो समझता वह कृतकृत्य होजाता है; व्याकुलता का नाम भी नहीं रहता। टी में भी आचार्यदेव ने अद्भुत काम किया है। केवलज्ञानी के हृद का अमृत प्रवाहित किया है। मात्र सत् की जिज्ञासा से मध्यस्थ हो समझना चाहे, अंतरंग की उमंग से बराबर पात्र होकर, समागम कर सत्य को सुने तो स्वतः उछलकर अंतरंग में यथार्थता का स्पर्श जाता है, तथा स्वभाव में से यथार्थता का उद्भव होकर कृतकृत्य जाता है ऐसी सुन्दर-सरस बात आचार्यदेव ने कही है।

जो सत् को समझने के जिज्ञासु हैं तथा जो पात्र हैं उन्हें आचार्य देव यह सब समझाते हैं, और वे जो समझ सकें ऐसी ही बात क जारही है। पहले आचार्यदेव ने कहा था कि मैं और तुम सब सि परमात्मा के समान हैं। इसप्रकार निज-पर के आत्मा में पूर्ण (सिद्धत्व) को स्थापित किये बिना सत्य को नहीं समझाया जासकता तू भी परमार्थतः त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा आनंदमूर्ति भगवान है

जो-जो पूर्ण गुण सिद्ध परमात्मा में हैं वे सभी तुझमें भी हैं और जो सिद्ध में नहीं है वे तुझमें भी नहीं हैं। ऐसा परमार्थस्वभाव वर्तमान अवस्था में भी अखंडरूप से भरा हुआ है। यदि उस पूर्ण का विश्वास न जमे और भव की शंका दूर न हो, तो कहना होगा कि तूने न तो केवलज्ञानी को माना है और न उनके उपदेश को माना है।

समस्त आत्मा ज्ञातास्वरूप हैं, तू भी ज्ञानस्वरूप आत्मा है, यह खूब जानकर कहा जारहा है, तू पन्चेन्द्रिय है अथवा मनुष्य है यह कहकर उपदेश नहीं देते हैं।

अशुभराग में संसार सम्बन्धी निमित्त होता है और शुभराग में सच्चे देव, गुरु, शास्त्र आदि शुभनिमित्त होते हैं, सम्यक्दृष्टि के राग नहीं होता, वह राग को या पर के अवलम्बन को स्वीकार नहीं करता। अवस्था में पुरुषार्थ अशक्त होता है वहाँ राग का अवलंबन अनेक प्रकार का होता है। इसमें पूर्ण होने से पहले बीच में व्यवहार तथा शुभराग में क्या निमित्त होता है उसका स्पष्टीकरण होजाता है। जहाँ राग की दिशा बदल जाती है वहाँ बाह्य-लक्ष्य में देव, गुरु, शास्त्र, पूजा, भक्ति, व्रतादि का शुभभाव होता है। शुभभाव करने पर संयोग में शुभ निमित्त का आरोप होता है, और अशुभभाव करे तो संयोग में अशुभनिमित्त का आरोप होता है, तथा यदि पर-निमित्त के भेद के बिना स्वभाव में रहकर ज्ञान ही करे तो वही संयोग (निर्जरा में) अभावरूप निमित्त कहलाते हैं। इसप्रकार निमित्त में अपने भावानुसार आरोप होता है। निमित्त से पर का कार्य नहीं होता, किन्तु कार्य के समय उसकी उपस्थिति होती है। यहाँ दो तत्वों की स्वतंत्र योग्यता को स्वीकार करने की बात है।

पर-पदार्थ की ओर लक्ष्य का होना सो राग है। पर में लक्ष्य करके रुक जाना सो पर-विषय है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द के विषय में रागद्वारा रुककर अच्छे-बुरे की वृत्ति करना सो पर-विषय है। ज्ञानी के उसका स्वामित्व नहीं होता, किन्तु अखण्ड ध्रुवस्वभाव का

स्वामित्व और उसकी ही मुख्यता है। उस अखण्ड स्वभाव के बल से प्रतिसमय निर्मलता बढ़ती है, मलिनता की हानि होती है और अशुद्धता में निमित्तभूत कर्म की निर्जरा होती है। बीच में जो राग रह जाता है उसमें देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति तथा व्रत, संयम इत्यादि शुभभाव के निमित्त होते हैं, किंतु निमित्त से राग नहीं होता और निमित्त के लक्ष्य के बिना राग नहीं होता। स्वभाव में भेद का निषेध है, रागरहित गुण पर पड़ी हुई दृष्टि गुणकारी है। जो राग रह गया है उसके प्रति न आदर है, न स्वामित्व है और न कर्तृत्व है।

निमित्त अथवा अवलम्बनरूप राग लाभदायक नहीं है, सहायक नहीं है किन्तु स्वावलम्बी स्वभाव की ओर दृष्टि के बल से जितना राग दूर होगया उतना लाभ होता है; अवशिष्ट शुभराग भी हानिकारक है। जहाँ पुरुषार्थ की अशक्ति होती है वहाँ राग का भाग होता है किन्तु उसमें ज्ञानी के कर्तृत्वबुद्धि नहीं होती। मैं राग नहीं हूँ, मैं विकार करने योग्य नहीं हूँ; इसप्रकार विरोधभाव का निषेध करने वाला भाव, यथार्थ श्रद्धा की रुचि हो तो शुभभाव है। स्वलक्ष्य से राग का निषेध और स्वभाव का आदर करने वाला जो भाव है वह निमित्त और राग की अपेक्षा से रहित भाव है; उसमें आँशिक अवलम्बन का भेद तोड़कर यथार्थ का जो बल प्राप्त होता है वह निश्चय-सम्यक्दर्शन का कारण होता है।

संवर का अर्थ है पुण्य-पाप के भावों को रोकना, उन विकारी भावों को रोकना मेरे पुरुषार्थ के आधीन है। उसमें कोई दूसरा सहायता करे तब गुण प्रगट हों ऐसी बात नहीं है। ध्रुवस्वभाव के आश्रय से संवरभाव की उत्पत्ति और आस्रवरूप विकारी भाव का रुकना होता है तथा उसके कारण से आते हुए कर्म रुक जाते हैं। रजकणों को बाँधना, रोकना या छोड़ना मेरे आधीन नहीं है।

निर्जरा:—स्वयं राग के उदय में युक्त नहीं हुआ और मैं ज्ञान हूँ इसप्रकार स्वलक्ष्य में स्थिर रहा तब वहाँ पूर्वकर्म का उदय अभाव

रूप निर्जरा में निमित्त कहलाता है। विकार का अभाव करके शुद्धि की वृद्धि करना सो भावनिर्जरा है और कर्म का आँशिक अभाव होना सो द्रव्यनिर्जरा है। भीतर कर्म में किसप्रकार का जोड़-मेल होता है यह दिखाई नहीं देता, किन्तु निमित्त कर्म में जितना जोड़-मेल होता है उतनी राग-द्वेष की आकुलतारूप भावना का अनुभव होने पर ज्ञान से माना जासकता है। जसे पर में सुख मानने की कल्पना अरूपी है, वह सुख पर में देखकर नहीं माना तथापि उसमें वह निःसंदेहता मान बैठा है। वह ऐसा संदेह नहीं करता कि उसमें जो सुख है उसको यदि अपनी दृष्टि से देखूँ तभी मानूँगा। कपट का, आकुलता का भाव आँखों से दिखाई नहीं देता तथापि उसे मानता है, उसे पर में देखे विना निःसंदेह मानता है। उस मान्यता का भाव अपना है। उस मान्यता को बदलकर अपने में जोड़े तो आत्मा में अरूपी भाव को मान सकता है कि परलक्ष्य में वर्तमान अवस्था से न रुका हूँ तो राग की उत्पत्ति न हो। पर में निःसंदेहरूप से सुख मान रखा है उस मान्यता को बदलकर अविरोधी स्वभाव को माने तो स्वयं इसप्रकार निःसंदेह होसकता है कि मैं त्रिकाल स्वाधीन हूँ, पूर्ण हूँ। निर्जरा प्रत्यक्ष नहीं देखी जासकती किन्तु अनुभव में जो निराकुल शांति की वृद्धि होती है उतना तो स्वतः निश्चित् होता है, और यह अनुमान हो सकता है कि उससे उसके विरोधी तत्व निमित्तकारण का अभाव हुआ है। प्रत्यक्ष तो केवलज्ञान में दिखाई देता है। भीतर जो सूक्ष्मकर्म टल गये हैं उन्हें देखने का मेरा काम नहीं है किन्तु पुरुषार्थ से अपने ध्रुवस्वभाव को स्वीकार करके जितना स्वभाव की ओर एकाग्रता की शक्ति को लगाता हूँ उतना वर्तमान में फल प्राप्त होता है। वह निःसंदेहता स्वभाव के आश्रय से आती है।

यदि कोई कहे कि मैं पुरुषार्थ तो वहुत करता हूँ किन्तु पूर्वकर्म के उदय का वहुत वल है सो इच्छित फल नहीं मिल पाता तो यह वात मिथ्या है, क्योंकि कारण की वहुलता हो और कार्य (उसका

फल) कम हो ऐसा नहीं होसकता। अपने पुरुषार्थ की कमी को न देखकर पर-निमित्त के बल को देखता है, यही सबसे बड़ा गड़बड़ घोटाला है। निमित्तदृष्टि संसार है, और स्वतंत्र उपादान-स्वभावदृष्टि मोक्ष है।

प्रश्नः—यदि यह सच है तो शास्त्र में ऐसा क्यों लिखा है कि वीर्यांतराय कर्म का आवरण आत्मवीर्य को रोकता है?

उत्तरः—कोई किसी को नहीं रोकता। जब स्वयं अपने विपरीत पुरुषार्थ से हीन शक्ति को लेकर अटक जाता है तब निमित्तरूप से जो कर्म उपस्थित होता है उसमें रोकने का आरोप कर दिया जाता है। यह तो 'घी का घड़ा' कहने के समान व्यवहार की लोकप्रसिद्ध कथनशैली है, किन्तु वैसा अर्थ नहीं होता। अपने भावानुसार निमित्त में आरोप करके व्यवहार से बात कही है। जो यह कहता है कि त्रिकाल में निमित्त से कोई रुकता है तो वह झूठा है। यदि कोई अन्य वस्तु अपने को रोकती हो या हानि पहुँचाती हो तो उसका अर्थ यह हुआ कि वह स्वयं निर्माल्य है। वह स्वयं ही परलक्ष्य करके विपरीत पुरुषार्थ से अपने को हीन मानता है। यदि स्वयं ज्ञान स्वभावरूप में रहे तो विकास होना चाहिये, किन्तु उसकी जगह पर में अच्छा-बुरा मानकर जब स्वयं रुक जाता है तब कर्म में निमित्तता का आरोप करता है।

मात्र आत्मा में अशुद्धता को दूर करूँ ऐसा विकल्प कहाँ से आता है? अकेले में टालने की बात नहीं होती किन्तु जहाँ पर-निमित्त में राग से रुक गया वहाँ निमित्ताधीन किये गये विकारभाव को दूर करने का विचार होता है। भीतर स्वभावरूप से त्रिकाल ध्रुव अनंत गुण की शक्ति है उस अखंड के बल से शक्ति में से निर्मल अवस्था प्रगट होती है। संसार की विकारी अवस्था की स्थिति एक-एक समयमात्र की है वह प्रति समय नई वर्तमान योग्यता को लेकर (निमित्ताधीन) आत्मा स्वयं जैसा करता है वैसा होता रहता है, निमित्त कुछ कराता।

जैसे पानी के ऊपर तैल की बूँद तैरती रहती है उसीप्रकार सम्पूर्ण ध्रुव-स्वभाव पर वर्तमान एक-एक अवस्थामात्र का जो विकारी भाव है सो तैरता रहता है। ध्रुवस्वभाव में वह प्रतिष्ठा को नहीं पाता। विकार में जीव की योग्यता और निमित्त की उपस्थिति होती है। जब दोनों को स्वतंत्र स्वीकार करते हैं तब नवतत्त्व का ज्ञान मन के राग के द्वारा यथार्थ किया गया कहलाता है।

बंधः—आत्मा स्वयं अपने विकारीभाव से बंधने योग्य है। उस बंधने योग्य अपनी जो अवस्था है सो भावबंध और उसका निमित्त प्राप्त करके अपनी योग्यता से जो नये कर्म बंधते हैं सो द्रव्यबंध है।

कोई किसी को नहीं बांधता। जीव बंधनरूप विकार करके, परोन्मुख होकर जब अच्छे-बुरे भाव में अटक जाता है तब पर-निमित्त होने का आरोप होता है, और यदि स्वलक्ष्य में स्थिर रहे तो निर्मल शक्ति का विकास होता है। विकासरूप न होकर पर-विषय में विकार भाव से योग करके अर्थात् वर्तमान अवस्था को उसी समय हीन कर दिया सो भावबंध है, वही परमार्थ आवरण है। उस विकाररूप होने वाले आत्मा की जो राग-द्वेषरूप अवस्था होती है सो भावकर्म है। प्रथम समय से दूसरे समय की जो अरूपी अवस्था विकाररूप में परिणत होती है सो क्रिया है; इस भावबंध का कर्ता अज्ञानता से जीव है। जीव न तो जड़-कर्म का कर्ता है और न कर्मों ने जीव को रोक रखा है।

वर्तमान एकसमय की स्थिति में होने वाले नये बंध को स्वतः रोकने की शक्ति जीव में होती है। प्रगट विकारी अवस्था के समय भी प्रतिसमय द्रव्य में त्रैकालिक पूर्ण शक्ति से अखण्डता है, जो इसे नहीं मानता उसने अपने स्वभाव को हीन मान रखा है। अपनी त्रैकालिकता को न मानने का भाव ही बंध योग्य है; जड़कर्म ने नहीं बाँध रखा है। अभीतक शास्त्र के नाम पर ऐसे पहाड़े रटता रहा है कि कर्म आवरण करते हैं, कर्म बाँधते हैं, इसलिये उन्हें बदलना कठिन

मालूम होता है। यदि स्वतंत्र वस्तु की पहिचान करे तो दोनों द्रव्य पृथक्-स्वतंत्र थे तथापि निमित्ताधीन मान्यता का संसार था इसप्रकार वह मानेगा। श्रद्धा में पूर्ण स्वतंत्र स्वरूप को स्वीकार करने के बाद पुरुषार्थ की अशक्तिरूप जो अल्पराग रह जाता है उसका स्वामी ज्ञानी नहीं है। स्वभाव में विकार नहीं है। स्वभाव तो विकार का नाशक ही है, उसे भूलकर जीव जब भावबंधन में अटक गया तब जड़कर्म को निमित्त कहा गया है।

कर्म जीव को बंध नहीं कराता और जीव परमार्थ से कर्मों को नहीं बांधते। यदि यह माना जाय कि अपने में बंध करने की योग्यता थी तो वीर्यातराय कर्म पर भार न रहे। कर्म का संयोग तो उसकी स्थिति पूर्ण होने पर ज्ञानी अथवा अज्ञानी दोनों के नियम से छूट जाता है। कर्म बाधक नहीं होते किन्तु स्वयं जैसा भाव (विरोध अथवा अविरोध-रूप से) करता है उसका फल उसी समय उसके आकुलता या निरा-कुलतारूप में आता है।

आत्मा वस्तुत्व की दृष्टि से एकरूप रहता है तथापि उसकी अवस्था एकरूप नहीं रहती, उसीप्रकार रजकण वस्तुत्व की दृष्टि से एकरूप रहते हैं, तथापि उनकी अवस्था बदलती रहती है–एकरूप नहीं रहती। यद्यपि जड़ में ज्ञान नहीं है तथापि वह वस्तु है इसलिये त्रिकाल शक्तिवान है। प्रतिसमय पूर्ण ध्रौव्य रखकर शक्ति से अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। यह रहस्य केवलज्ञान की बारहखड़ी है। उसमें प्रत्येक वस्तु की परिपूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा होती है।

जब जीव असंग स्वभाव को भूल जाता है तब वह बंध के योग्य होता है। बंध में पूर्व का कर्म निमित्त है। जो विकारी-अविकारी अवस्था अपने में होती है वह व्यवहार है। निमित्त राग-द्वेष कराता है ऐसा मानना सो व्यवहार नहीं किन्तु व्यवहाराभास है, अज्ञान है।

नवतत्व के लक्ष्य से परमार्थश्रद्धा या निर्मल चारित्र प्रगट नहीं होता, क्योंकि भेद के लक्ष्य से विकल्प उत्पन्न होता है। निश्चयश्रद्धा

में नवतत्व के भेद नहीं होते। मोक्ष और मोक्ष का मार्ग दोनों व्यवहार-नय के विषय में जाते हैं।

प्रश्नः—नवतत्वों में मोक्ष तो साध्य है, उसे भी विकल्प मानकर क्यों अलग कर देना चाहिये ?

उत्तरः—संसार और मोक्ष दोनों पर्याय हैं। संसार कर्म के सद्भाव की अपेक्षारूप पर्याय है और मोक्ष उस कर्म के अभाव की अपेक्षारूप पर्याय है। आत्मा मोक्षपर्याय जितना नहीं है। मोक्षपर्याय तो कर्म के अभाव का फल है इसलिये वह व्यवहार से साध्य कहलाती है, किन्तु निश्चय से साध्य तो ध्रुवस्वभाव है। परमार्थ साध्यरूप अखण्ड एक स्वभाव के बल से मोक्षपर्याय सहज ही प्रगट होती है, और पर्याय तो व्यवहार है, उसकी अखण्ड स्वभाव में गौणता है; क्षणिक पर्याय पर भार नहीं देना है, भार तो वस्तु में होता है।

द्रव्य में त्रिकाल की समस्त पर्याय वर्तमानरूप में हैं, उसमें कोई पर्याय भूत अथवा भविष्य में नहीं गई है, तथापि वस्तु में प्रत्येक गुण की एकसमय में एक पर्याय प्रगट होती है और वह प्रत्येक अवस्था के समय शक्तिरूप में अनन्त गुण ध्रुवरूप में विद्यमान हैं, इसलिये अनन्त शक्ति के रूप में वस्तु वर्तमान में पूर्ण है। आत्मा का स्वभाव वर्तमान एक-एक समय में त्रैकालिक शक्ति से परिपूर्ण है। जो विकारीदशा होती है उसका द्रव्य में प्रवेश नहीं है। स्वभाव विकार का नाशक है, इस-लिये नवतत्व के विकल्प अभूतार्थ हैं।

मोक्षः—में विकार से और पर से मुक्त होने की अपेक्षा है। एक-रूप ध्रुवस्वभाव के बल से जो पूर्ण निर्मल अवस्था उत्पन्न होती है और पूर्ण अशुद्ध अवस्था का नाश होता है सो भावमोक्ष और उसका निमित्त प्राप्त करके अपनी योग्यता से जो कर्मरज छूट जाते हैं सो द्रव्यमोक्ष है। अपने-अपने कारण से स्वतंत्र अवस्था होती है। निमित्त से हुआ है ऐसा कहना व्यवहार है, किन्तु निमित्त से किसी की अवस्था

होती है ऐसा मानना सो मिथ्यात्व है। कर्म का संयोग सर्वथा छूट गया सो जीव में अभावरूपी निमित्तकारण (मोक्ष को करने वाला) अजीव; और जो कर्म छूट गये वे मुझे निमित्त हुए इसप्रकार नास्तिरूप (अभाव रूप) आरोप से जीव व्यवहार से मोक्ष होने योग्य है।

जीव-अजीव में स्वतंत्र उपादान की योग्यता, निमित्त-नैमित्तिकता तथा नवतत्व के विकल्प हैं यह बताकर मन के द्वारा स्वतंत्रता का निश्चय कराया है; किसी का कारण-कार्यरूप पराधीनपन नहीं बताया है। मात्र स्वभाव में नवतत्व के भेद नहीं होते। निमित्त की अपेक्षा से, व्यवहार से (अवस्था में) नौ अथवा सात भेद होते हैं।

जिसे हित करना हो उसे सर्वप्रथम क्या करना चाहिये, सो कहते हैं। निराकुल सुख आत्मा में है। शरीर आदि की अनुकूलता में (अनुकूल संयोगों में) सुख नहीं है, तथापि अज्ञानी जीव उसमें सुख मान रहा है, किन्तु पर के आश्रय की पराधीनता में त्रिकाल भी सुख नहीं है। जिसने अपनें में सुख का अवलोकन नहीं किया उसे पर-संयोग की महत्ता मालूम होती है। जो यह मानता है कि पर-संयोग के आश्रय से सुख होता है वह अपने को निर्माल्य, रंक और परमुखापेक्षी मानता है, यह अज्ञानभाव की मूढ़ता से मानी हुई कल्पना है। जो पर को हितरूप मानता है वह पराश्रयरहित अविकारी आत्मस्वभाव को हितरूप नहीं मानता।

पर मेरा है, पर में सुख है, मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, ऐसी विपरीत कल्पना करने वाला अपना विपरीत ज्ञान है। जड़-देहादिक भूल नहीं कराते। आत्मा पर से भिन्न नित्यपदार्थ है, स्वयं जिस स्वभाव में है उसकी प्रतीति नहीं है इसलिये पर में कहीं भी अपने अस्तित्व की, अपने सुख की कल्पना कर लेता है। उस अज्ञान से चौरासी लाख के अवतार होते हैं। स्वतंत्र स्वभाव को यथार्थतया सत्समागम से पहिचान कर उस विपरीत मान्यतारूप भूल को दूर कर देने पर नित्य स्वभावाश्रित निर्मल आनंद की उत्पत्ति होती है। वर्तमान विकारी अवस्था के समय

भी बाह्यभाव की मान्यता को दूर करके देखे तो उस एक अवस्था के अतिरिक्त सम्पूर्ण निर्मल स्वभाव त्रिकाल शुद्धरूप में वर्तमान में भी मालूम होता है। पामरता, अशरणभाव, अवगुणभाव पामरता की भूमिका में रहकर दूर नहीं किया जासकता। पामरता के समय ही तुच्छता रहित ध्रुवस्वभाव पूर्ण महिमारूप विद्यमान होता है।

जिसने पूर्ण निर्मल परमात्मदशा प्रगट की है वह साक्षात् भगवान है। मैं भी शक्तिरूप से पूर्ण भगवान हूँ। इसप्रकार सत्समागम से जानकर यदि पूर्ण स्वाधीन ध्रुवस्वभाव की महिमा को लाये तो अपने में कल्पित हीनता और स्वामित्व दृष्टि में से छूट जाता है। पश्चात् वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण पर में रुक जाता था सो उस रुचि-भाव के कारण नहीं रुकता है। वह स्वभाव के बल से राग-द्वेष को तोड़ना चाहता है; विकार का अर्थात् राग की वृत्ति का स्वामित्व नहीं करता।

जो विकार का नाश करना चाहता है वह विकारस्वरूप नहीं होसकता। विकार को जानने वाला क्षणिक विकाररूप नहीं है। यदि विकार को दूर करने की शक्ति आत्मा में न हो तो जो नहीं है वह जगत में त्रिकाल में भी नहीं होसकता; किन्तु अनन्त ज्ञानी पूर्ण, पवित्र, उत्कृष्ट, परमात्मदशा को प्रगट कर चुके हैं। नित्यस्वभाव के बल से अमुक अंश में राग को दूर करके उसी रुचि से राग न होने दे या पूर्ण पुरुषार्थ से अंशमात्र राग-विकार न होने दे ऐसी आत्मा की शक्ति प्रतिसमय प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है।

यदि कोई जीव किसी दूसरे के दोषों को दूर कर सकता हो तो कोई दूसरा जीव नरक में या दुःख में भी डाल सकता है। किन्तु वास्तव में जीव के ऐसी पराधीनता नहीं है। दोषों को दूर करने में स्वयं अकेला ही समर्थ है तो स्वयं त्रिकाल पूर्ण और स्वतंत्र असंयोगीरूप में भी वर्तमान में परिपूर्ण है। जो पर-सम्बन्ध मान रखा है सो निमित्ताधीनदृष्टि की भूल है, और यही संसार है। जब ऐसे नित्यस्वभाव के

बल से पामरता दूर होजाती है कि मैं पूर्ण प्रभुता वाला हूँ तो उसी समय आँशिक निर्मल पवित्रता प्रगट होती है।

देह पर दृष्टि रखकर विचार करता है इसलिये यह प्रतिभासित नहीं होता कि भगवान आत्मा कीड़े-मकोड़े में भी पूर्ण स्वतंत्र है, क्योंकि अपनी सर्वोत्कृष्ट महिमा निज को निज में प्रतीत नहीं हुई इसीलिये अपनी दृष्टि से अपने को हीन, अपूर्ण, विकारी मानता है। देहादिक वर्तमान संयोग को ही मानने वाला यह नहीं मानता कि मैं वर्तमान में भी त्रिकाल-स्थायी पूर्ण प्रभु हूँ, इसलिये वह अज्ञानी है; क्योंकि अपने में सुख नहीं देख सका इसलिये देहबुद्धि से किसी में अनुकूलता की कल्पना करके अच्छा मानता है और किसी में प्रतिकूलता की कल्पना करके बुरा मानता है।

स्वयं ज्ञाता होकर भी अपने को हीन मानकर पुण्य और देहादिक क्षणिक संयोगी वस्तुओं को महत्व देता है। यदि बिच्छू कपड़े को काट खाता है तो दुःख नहीं मानता किन्तु शरीर को काटता है तो दुःख मानता है; किन्तु वस्त्र और शरीर दोनों त्रिकाल में भी अपनी वस्तु नहीं है। क्योंकि देह पर (संयोग पर) दृष्टि है इसलिये यह मानता है कि जो देखने वाला है सो मैं नहीं हूँ किन्तु जो वस्तु दिखाई देती है वह मैं हूँ। मूर्ख प्राणी शरीर को लक्ष्य करके कहता है कि 'यदि तू अच्छा रहे तो मुझे सुख हो,' किन्तु शरीर को अथवा जड़ इन्द्रियों को कुछ खबर ही नहीं होती, फिर भी मूर्ख प्राणी यह मानता है कि उनके कारण मुझे सुख-दुःख होता है। एक तत्व को दूसरे का अवलम्बन लेना पड़े सो वह सुख नहीं है। जो यह मानता है कि पर का आश्रय आवश्यक है, वह अपने स्वतंत्र पवित्र स्वभाव की हत्या करता है। और यही हिंसा है।

यदि अविनाशी स्वतंत्र पूर्ण स्वभाव को अपूर्वरूप में न जाने और अन्तरंग में उसकी महिमा को न लाये तो मरकर कहाँ जायगा यह विचार करो! जैसे समुद्र में फेका गया मोती मिलना कठिन है उसीप्रकार

मनुष्यभव को खोकर चौरासीलाख के अवतारों में परिभ्रमण करते हुए सत् का सुनना दुर्लभ होजायगा ।

जैसे मात्र सोना अशुद्ध या हीन नहीं कहा जाता किन्तु वह तांबा इत्यादि के संयोग से अशुद्ध अथवा सौटंच से उतरता हुआ कहलाता है तथापि यदि वह संयोग के समय भी सौटंची शुद्ध सोना न हो तो कदापि शुद्ध नहीं होसकता; इसीप्रकार मात्र चैतन्य आत्मा में स्वभाव से विकार नहीं होसकता, किन्तु वर्तमान अवस्था में निमित्त-संयोगाधीन विकारी अवस्था नवीन होती है। इस संयोगाधीन दृष्टि को छोड़कर यदि अखंड शुद्ध ध्रुव पर दृष्टि करे तो निर्मलता प्रगट होती है।

यदि अकेले तत्त्व में पर-निमित्त का संयोग हुए विना विकार हो तो विकार स्वभाव कहलायेगा। पर-संयोग में कर्ताभाव से (अपनेपन के भाव से) अटककर जैसे शुभाशुभ भाव जिस रस से वर्तमान अवस्था में जीव करता है उसका फल उसी समय अपने में आकुलता के रसरूप से होता है, और उसके निमित्त से बंधने वाले संयोगीकर्म का फल बाद में संयोगरूप से होता है।

अज्ञानी की बाह्य में देह, स्त्री आदि पर दृष्टि है और भीतर सूक्ष्म कर्म पर दृष्टि है। यथार्थ नवतत्त्वों को शुभभाव से जानना भी बाह्य भाव है। इस बाह्य भाव से अन्तरंग में पैठ नहीं होसकती। मात्र आत्मा में अपने आप नवतत्व की सिद्धि नहीं होती ।

बाह्य (स्थूल) दृष्टि से देखा जाय तो जीव पुद्गल की अनादि बंध-पर्याय के समीप जाकर एकरूप में अनुभव करने पर यह नवतत्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं। यहाँ समीप का अर्थ क्षेत्र से नहीं किन्तु पर में एक-मेकपन की मान्यतारूप भाव की एकाग्रता होता है। जिसे अविकारी भिन्न आत्मस्वभाव की खबर नहीं है उसे पर-संयोग का (राग-द्वेष के विकल्प का) जो अनुभव होता है वह भूतार्थ है, भ्रम नहीं है;

राग-द्वेष का निमित्त पाकर कर्म अपनी योग्यता से अज्ञानी आत्मा के प्रदेशों से एकक्षेत्रावगाहरूप में आते हैं, यह बात भी सच है।

यदि कोई कहे कि पुण्य-पाप होते ही नहीं, जीव की वर्तमान अवस्था में भूल और विकारी भाव का होना भ्रम है, असत् है तो ऐसा कहने वाले की यह बात सच नहीं है। यह खरगोश के सींग की भाँति असत् नहीं है। यदि कोई यह कहे कि स्वर्ग और नरक वास्तव में नहीं हैं किन्तु लोगों को पुण्य का लोभ और पाप का भय बताने के लिये इनकी कल्पना की है तो ऐसा कहने वाले की बात मिथ्या है, क्योंकि स्वर्ग और नरक अनेक न्याय-प्रमाणों से सिद्ध किये जासकते हैं।

जैसे कोई भला ब्रह्मचारी सज्जनों की संगति को छोड़कर कुशीलवान व्यक्तियों के साथ आये-जाये तो यह लज्जा की बात है, इसीप्रकार ब्रह्मानंद भगवान आत्मा परवस्तु में कर्तृत्व या अपनापन स्थापित करके अनंत ज्ञानानंद प्रभुत्व की महिमा को भूलकर और यह मानकर कि पुण्य-पाप मेरे हैं, मैं रागी हूँ, मुझे पर का आश्रय चाहिये; चौरासी के चक्कर में पड़ा रहता है और भव-भ्रमण करता रहता है। पर-संयोग में सुख मानना महा व्यभिचार है।

संयोगाधीनदृष्टि में एकाग्र होकर बंधभाव का अनुभव करने पर यह नवतत्व के भेद भूतार्थ-सत्यार्थ हैं। अज्ञानभाव से अवस्थादृष्टि के व्यवहार को पकड़कर, राग-द्वेष-अज्ञान के कारण जीव का जो परिभ्रमण होता है सो वास्तविक है, भ्रान्ति नहीं है, असत् कल्पना नहीं है। जैसे मृगजल में वास्तव में पानी नहीं है तथापि पानी का प्रतिभास होता है, उसे वास्तविक पानी मानने की भूल होती है, वह वास्तविक भूल ही है। इसीप्रकार अज्ञानभाव से जीव परिभ्रमण करता है जोकि वास्तविक है।

जिसे आत्मा के यथार्थ स्वरूप की खबर नहीं है वह मूढ़तावश अपने को पूर्ण स्वतंत्र भगवान नहीं मानता। जिनकी ऐसी धारणा

है कि अन्य कोई मेरी सहायता करदे, मुझे कोई कुछ दे दे, दूसरे का आश्रय आवश्यक है, दूसरे का आशीर्वाद चाहिये, पुण्य का साधन आवश्यक है वे अपने को पामर-अशक्त मानते हैं। जो बाह्य में धर्म मानकर क्रिया-कष्ट से खेद-खिन्न होता है उसे आत्मा की अतीन्द्रिय शांति और भव से निःसंदेह मुक्ति का निर्णय नहीं होता। भगवान ने उसकी बाह्यक्रिया को अज्ञानरूप बालव्रत और बालतप कहा है।

जिसे भव से भय लगता है वह यह विचार करता है कि निर्मल नित्य शरणभूत वस्तु क्या है, किन्तु जो संसार में वर्तमान पुण्य की अनुकूलता को ही देखता है वह पुण्य-पाप के नाशक स्वभावरूप अविकारी भगवान आत्मा को नहीं देखता। धर्मात्मा को राग की चेष्टा में लज्जा मालूम होती है; खेद होता है। भूँड नामक प्राणी विष्टा को खाकर जैसे आनंद मानता है उसीप्रकार अज्ञानी जीव पुण्य को अच्छा मानकर उसमें हर्ष करता है। प्रतिष्ठा, धन, शरीर इत्यादि में सुख मानता है किन्तु ज्ञानियों ने पुण्य-पाप से रहित अविनाशी स्वभाव की प्रतीति में स्थिर होकर पुण्य-पाप को विष्टा की भाँति छोड़ दिया है। अज्ञानी को भूँड की उपमा देना बिल्कुल उपयुक्त है क्योंकि उसकी उस मान्यता में भूँड के अनन्त भव विद्यमान हैं।

यदि जीव पामरता करे और उस पामरतारूप अवस्था को ही अपना सम्पूर्ण स्वरूप माने और यह न माने कि अपना अवगुण का नाशक त्रैकालिक स्वभाव वर्तमान में सम्पूर्ण है तो वह चौरासी लाख के अवतार में निरंतर परिभ्रमण करता रहता है, इसलिये उसे नवतत्वों का खण्डशः अनुभव सत्यार्थ है।

यदि कोई यह कहे कि भोग योग्य कर्मों का बंध किया है सो वे विषय-भोग कराते हैं, इसमें मैं क्या कर सकता हूँ? राग-द्वेष होजाते हैं; तो ऐसा मानने वाला स्वच्छन्द चौरासी के चक्कर में भवभ्रमण करने के लिये सच्चा है।

जब कोई व्यक्ति दान में पैसा नहीं देना चाहता तब संस्था को दोष देता है और कहता है कि 'मेरे भाव दान देने के तो हैं, किन्तु आपकी संस्था वाले व्यवस्था ठीक नहीं रखते' इसप्रकार तृष्णा को कम न करने के लिये बात को गोलमगोल कर देता है, किन्तु यह स्पष्ट क्यों नहीं कह देता कि मुझे कुछ देना नहीं है। वह संस्था सुधरे या बिगड़े, उस पर तेरी तृष्णा के बढ़ने या घटने का आधार नहीं है। जिसे दानादि में मान चाहिये है अथवा दान के बाद जो आशा रखता है उसके वर्तमान तृष्णारूप पापभाव होता है। जो दान में तृष्णा को कम करता है उसका वह भाव अपने पर ही अवलंबित है। इसप्रकार परिणाम का व्यवहार से स्वतंत्र कर्तृत्व जानकर जैसे नवतत्व हैं उन्हें वैसा जाने तो व्यवहारशुद्धि होती है, किन्तु उससे जन्म-मरण नहीं मिटता, क्योंकि वह पुण्यभाव है।

असंयोगी निर्विकारी स्वभाव भिन्न है, ऐसी यथार्थ श्रद्धा होने के बाद वर्तमान अशक्ति में राग होता है, और उसमें कर्तृत्व-बुद्धि को छोड़कर पाप से बचने के लिये पुण्य-भाव की शुभवृत्ति करता है; किन्तु उसे निमित्ताधीन विकारी जानकर ज्ञानी उसका स्वामी नहीं होता।

कोई शास्त्र के पहाड़े रटकर विपरीत अर्थ ग्रहण करे कि पहले के कठिन कर्म आड़े आते हैं, निकाचित कर्म का बल अधिक है, इसलिये संसार के भोग नहीं छूटते। इसप्रकार गोलमाल करने वाले के व्यवहार नीति का भी ठिकाना नहीं है। अपने भाव से स्वभाव की निर्मलता को भूलकर मैंने दोष किया है, और मैं उसे दूर करके पवित्र आनन्द भाव कर सकता हूँ, इसप्रकार यदि अपनी स्वतंत्रता को मन से स्वीकार करे तो वह आँगन में आया हुआ माना जायेगा।

अब आगे यह कथन है कि विकल्प को अंशतः दूर करके ध्रुव-स्वभाव के लक्ष्य से शांति कैसे प्रगट की जाये और अतीन्द्रिय स्वरूप को कैसे जानना चाहिये।

आत्मा में अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुण भरे हुए हैं, जो-कि अपने ही कारण से हैं, वे किसी निमित्त को लेकर प्रगट नहीं होते । निमित्त से अथवा रागादि विकार से अविकारी दशा नहीं होसकती । आत्मा का स्वभाव कर्मसंयोग से रहित, निर्विकार और अभेद है । आत्मा में जो कर्मसंयोगाधीन क्षणिक विकारी अवस्था होती है सो अभूतार्थ है । मन के द्वारा जो शुभविकल्परूप नवतत्वों का निर्णय होता है सो वह आत्मा के मूलस्वभाव का निर्णय नहीं है । एकरूप निर्मल स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा होने से पूर्व मन के द्वारा जो इसप्रकार नवतत्व के भेद का विचार करता है कि मैं जीव हूँ, पर से भिन्न हूँ, अजीव नहीं हूँ, स्वभाव की प्रतीति से संवर होता है इत्यादि; वह विकल्प शुभराग है । एकरूप ज्ञानस्वभाव में स्थिर होना चाहिये, उसकी जगह पर-सम्बन्ध से उत्थान होता है, जो आदरणीय नहीं है; तथापि मन से उस यथार्थ नवतत्व का विचार किये बिना स्वभाव के आँगन में नहीं आया जासकता ।

आत्मा देहादि की क्रिया नहीं कर सकता । देहादि से अथवा पर-जीव से प्रत्येक आत्मा त्रिकाल भिन्न ही है । पर के संबन्ध से राग-द्वेष और ममता का जो भाव अपनी अवस्था में स्वयं करता है, उस क्षणिक अवस्था के भेद से भी आत्मा परमार्थतः भिन्न है । स्वभाव के लक्ष्य से हटकर मैं पुण्य-पाप के भाव परलक्ष्य से करूँ तो वे होते हैं, किन्तु मेरी योग्यता से वह वर्तमान में नया विकार होता है । बन्धनरूप विकार भाव और अविकारी संवर, निर्जरा, मोक्ष का भाव मेरी योग्यता से होता है; उसे कोई दूसरा नहीं कराता । निमित्त का संयोग-वियोग उसकी योग्यता से होता है, इसप्रकार स्व-पर की स्वतंत्रता का निर्णय नवतत्व के भेद से करे तो जीव अभी प्राथमिक भूमिका के समीप आता है । उसके शुभराग में रुक जाना पुण्य का कारण है, वह आत्मा के धर्म का अथवा शांति का कारण नहीं है; क्योंकि थूपहले ऐसे मन के स्थूल विषय से आत्मा सच्चे नवतत्वों के पुण्यरूप

आँगन तक अनन्तबार पहुँचा है, किन्तु वहाँ से आगे विकल्प को तोड़-कर ध्रुवस्वभाव में एकत्व की श्रद्धा करने की अपूर्व समझ को नहीं पासका, इसलिये संसार ज्यों का त्यों बना रहा। जिस भाव से भव-बन्ध किया उस भाव का आत्मस्वभाव के बल से यदि अंत न किया जाय तो भव का अन्त नहीं होसकता और पवित्रता प्रगट नहीं होसकती।

बिना समझे जीव ने अनन्तबार अनेक शास्त्र पढ़े, पंडित हुआ, वीतरागदेव के द्वारा कहे गये सनातन जैनधर्म का नग्नदिगम्बर साधु हुआ, नवतत्वों का मन में यथार्थ निर्णय किया, किन्तु निमित्त पर लक्ष्य बना रहा कि मन का आलम्बन आवश्यक है, शुभराग से धीरे-धीरे ऊपर जासकेंगे, और इसप्रकार पर से, विकार से गुण का होना माना; किन्तु निरपेक्ष, निरावलम्बी, अक्रिय, एकरूप आत्मस्वभाव की श्रद्धा नहीं की। मन में नवतत्वों के विचार के ओर की जो दृष्टि है सो पराव-लम्बन है, जबतक जीव के ऐसा भाव बना हुआ है तबतक वह राग में रंगा हुआ है।

अब परमार्थ एकरूप सम्यक्दर्शन का कथन करते हैं। नवतत्व के भेद को गौण करके (निषेध करके) एक जीवस्वभाव के निकट जाकर अभेद का अनुभव करने पर वे नवभेद अभूतार्थ हैं, वे मात्र ज्ञायकस्वभाव में प्रतीत नहीं होते। मैं नवतत्व के भेदरूप क्षणिक अवस्था जितना नहीं हूँ, किन्तु त्रिकालस्थायी वर्तमान में पूर्ण कृतकृत्य और स्वभावतः शांति से परिपूर्ण हूँ, इसप्रकार पूर्ण की श्रद्धा के बल से अतीन्द्रिय आनन्द सहित अनुभव करने पर भेद दिखाई नहीं देता। अविकारी, अभेद की श्रद्धा होने के बाद विकल्प में आने वाले विकल्प के भेद होते हैं, किन्तु एकबार अखण्ड आत्मस्वभाव में स्थिर होकर नव के भेद से कुछ हटकर स्वभाव के निकट जाये तो फिर पराश्रित भेद में स्वामित्व (कर्तृत्व) न होने दे।

अनादिकाल से जो खण्ड-खण्डरूप बंध-पर्याय में एकाग्र होता था, उसमें एकत्व मानता था और स्वभाव से दूर भागता था, वह अब त्रिकाल एकरूप निर्विकारी अखण्डस्वभाव के समीप जाकर विकल्पों का अभाव करता है। उसे परमार्थ एकत्व का ऐसा अनुभव होता है कि कोई भी परमाणु या विकल्प मात्र मेरा स्वरूप नहीं है।

जैसे सफेद स्फटिक को लाल या काले फूल के संयोग की दृष्टि से देखें तो वर्तमान अवस्था में पर-निमित्त की भेदरूप से होने वाली लाल या काली झलक दिखाई देगी; किन्तु यदि उस संयोग पर की दृष्टि को छोड़कर मात्र स्फटिक को उसके मूल स्वभावरूप में देखें तो संयोग के समय भी एकरूप स्वच्छ, और शुभ्र दिखाई देगा; इसीप्रकार भगवान आत्मा अरूपी, ज्ञानानन्द एकरूप है (स्फटिक को कोई खबर नहीं होती किन्तु आत्मा को खबर है—ज्ञान है) उसे पर-संयोगाधीन दृष्टि से देखें तो वर्तमान अवस्था में वह पुण्य-पाप के अनेक भेदरूप से दिखाई देता है, जोकि व्यवहार से यथार्थ है। त्रिकाल पूर्ण, एकरूप स्वभाव का लक्ष्य करने के लिये संयोगाधीन क्षणिक भेद को दूर करके निमित्ताधीन होने वाली अवस्था के लक्ष्य को गौण करके एकरूप निर्मल आत्मस्वभाव को देखने पर यह प्रतीत होता है कि वे नवतत्व के भेद अभूतार्थ हैं, क्षणिक हैं, एकसमय स्थायी हैं। यह प्रथम सम्यक्दर्शन की बात है; इसके बाद श्रावकत्व और मुनित्व सहज ही होसकता है। पर के ग्रहण और त्याग से रहित निरपेक्ष ज्ञायक स्वभाव को समझे बिना जो यह यह मानता है कि मैं त्यागी हूँ उसके बाह्यसंयोग अन्तरायकर्म के उदय से छूट गये हैं किन्तु परमार्थतः अंतरंग से वे नहीं छूटे हैं।

परमार्थ एकत्व स्वभाव में एकाग्र अनुभव से निर्विकल्प श्रद्धा प्रगट करके, उसके अभेद विषय में जाने पर विकल्प नहीं रहते। यथार्थ प्रतीति होने के बाद शुभाशुभ राग की वृत्ति उत्पन्न होती है, किन्तु ज्ञानी उसका रुचिभाव से कर्ता नहीं होता और उसका आदर नहीं करता। वह एकाकार ज्ञायकस्वभाव को ही मुख्य मानता है।

वर्तमान संवर, निर्जरा और मोक्ष-पर्याय भेदरूप है, एकरूप आत्मा अनादि-अनंत है। निर्मल आनंदरूप मोक्ष-अवस्था आत्मा में अनन्त-काल तक रहती है, किन्तु आत्मा मात्र मोक्ष-अवस्था के भेद जितना नहीं है। संसार और मोक्ष की त्रैकालिक अवस्था मिलकर प्रत्येक आत्मा वर्तमान में एकरूप अखण्ड शक्ति से परिपूर्ण है। सम्पूर्ण वस्तुस्वभाव की परमार्थदृष्टि में संसार और मोक्ष-पर्याय का भेद नहीं है। मात्र ज्ञायकस्वभाव (पारिणामिक भाव, निर्मल स्वभावभाव) उस श्रद्धा का अखण्ड विषय है, निश्चय ध्येय है।

शुद्धनय से नवतत्व के विकल्प को गौण करके ज्ञायक स्वभावभाव से एकाग्र होने पर नव भेद नहीं होते, पानी के एकांत शीतलस्वभाव को देखने पर अग्नि के निमित्त से होने वाली उष्ण अवस्था नहीं है इसप्रकार मात्र पारिणामिक ज्ञायकस्वभावको निरपेक्ष ध्रुवदृष्टि से देखने पर नवप्रकार के भेद नहीं दिखाई देते।

इस बात को समझना भले ही अति सूक्ष्म मालूम हो किन्तु प्रभु! यह तेरी बात है। तुझे अपना नित्यस्वभाव कठिन मालूम होता है, और वह समझ में नहीं आसकता ऐसा न मान; तेरी महिमा की क्या बात कही जाये! सर्वज्ञ वीतराग की वाणी में भी तू भलीभाँति नहीं आसका। कहा भी है कि:—

जो पद दीखा सर्वज्ञों के ज्ञान में,
कह न सके उसको भी श्री भगवान हैं;
उस स्वरूप को वाणी अन्य तो क्या कहे?
अनुभव-गोचर मात्र रहा वह ज्ञान है।

(अपूर्व अवसर)

[यह सुअवसर की–पूर्ण पुरुषार्थ की भावना है]

आत्मस्वरूप ज्ञान में परिपूर्ण आता है, वाणी में पूरा नहीं आता, यह कहकर तेरी अपूर्व महिमा का वर्णन किया है। (यद्यपि तीर्थंकर

की वाणी द्वारा सम्पूर्ण भाव समझ में आते हैं) जो कोई तेरी महिमा गाता है उसका विकल्प-वाणी में युक्त होना रुक जाता है, इसलिये यह कहा है कि–उसे वाणी में नहीं गा सकते। अनुभव से पूर्ण स्व-भाव जैसा है वैसा ही परोक्ष ज्ञान से माना जासकता है। हे प्रभु! तू ऐसा त्रिकाल परिपूर्ण भगवान आत्मा है कि–सर्वज्ञ की वाणी में भी तेरी महिमा पूर्णतया नहीं आती, तथापि तू निमित्ताधीन बाह्यदृष्टि से अपनी महिमा को भूलकर पुण्य-पाप में रुककर दूसरे की आधीनता में सुख मानकर चौरासी के परिभ्रमण में अनन्त दुख पारहा है। यदि उस दुःख की बात ज्ञानी के निकट जाकर सुने तो भव का दुःख मालूम हो किन्तु तू तो विपरीतता में ही सुभट बना फिर रहा है।

यह अज्ञानी जीव वर्तमान पुण्य से प्राप्त अनुकूलता में ही बंट जाता है–उसी में तन्मय रहता है; मानो यह शरीर सदा स्थिर रहेगा। यदि किसी को केन्सर नामक असाध्य रोग होजाता है अथवा किसी का हार्टफैल होजाये तो वह समझता है कि यह तो अमुक व्यक्ति को हुआ है, मुझे थोड़े ही होना है। इसप्रकार मूढ़ता में निःशंक होकर सुख मानता है। घर में लड़के 'पिताजी-पिताजी' कहकर पुकारते हैं और सभी अनुकूल दिखाई देते हैं किन्तु वह यह नहीं समझता कि वे सब यह मोह की चेष्टा-राग को लेकर कहते हैं। और इसीलिये वह मानता है कि हमारे लड़के स्वार्थी नहीं हैं, स्त्री, पुत्रादि बहुत भले हैं। किन्तु वह यह नहीं समझता कि अरे! वे किसी के लिये विनयवान नहीं हैं, किन्तु अपने राग में जिन्हें जो अनुकूल लगता है वे उसी के गीत गाते हैं।

जो वर्तमान अवस्था में ही सर्वस्व मानते हैं वे भीतर ही भीतर प्रतिक्षण स्वभाव की मूढ़ता से अपना भाव-मरण कर रहे हैं, वे उस ओर दृष्टि ही नहीं डालते। हे भाई! यह सब यों ही पड़े रहेंगे और तू अकेला ही जायेगा, अथवा समस्त संयोग तुझे छोड़कर चले जायेंगे, इसलिये एकबार शान्तचित्त से अपनी महिमा को सुन। बाहर की ममता

के सब फल थोथे हैं। जैसे धुएँ को पकड़कर उससे कोई महल नहीं बनाया जासकता उसीप्रकार परवस्तु में तेरी कोई सफलता नहीं होसकती, और परवस्तु से सुख नहीं मिल सकता; इसप्रकार विचार करके सत्य का निर्णय कर। एकबार प्रसन्न-चित्त से अपने पवित्र मोक्ष-स्वभाव की बात सुनकर उसे स्वीकार कर, उससे क्रमशः आत्मस्वभाव की सम्पूर्ण पर्याय प्रगट होजायेगी।

यथार्थ स्वभाव को सुनकर अन्तरंग से स्वीकार करके जो अंशतः यथार्थ की रुचि में जा खड़ा होता है, वह फिर वापिस नहीं होता। पहले वह बाह्य-पदार्थों की रुचि में रागपूर्वक बारंबार एकाग्रता करता था, और अब वही भीतर ही भीतर अपूर्व रुचिभाव से गुण के साथ एकाग्रता को रटता रहता है। जो एकबार सत्समागम करके स्वभाव की रुचि से जाग्रत होजाता है और उस रुचि में दृढ़तापूर्वक जा खड़ा होता है, वह सब ओर से अविरोधी परमार्थ को प्राप्त कर लेता है; क्योंकि स्वभाव तो विकार का नाशक है, रक्षक नहीं। इस स्वतंत्र स्वभाव के लिये मन, वाणी, शरीर अथवा विकल्प की सहायता नहीं होती। स्वभाव के लिये किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। इसप्रकार सम्यक्दर्शन होने से पूर्व एक मात्र निरावलम्बी स्वभाव की स्वीकृति होनी चाहिये।

जो आत्मा के पूर्ण हितरूप स्वभाव को यथार्थतया समझता है और मानता है वही सज्जन है। जो राग-द्वेष होता है सो स्वभाव की अपेक्षा से असत् है, चिरस्थायी नहीं है। स्वभाव के लक्ष्य से राग-द्वेष को क्षण भर में बदलकर पवित्र भाव किया जासकता है, क्योंकि आत्मा में राग-द्वेष का नाशक स्वभाव प्रतिसमय विद्यमान है। यदि उसीको माने, जाने और उसमें स्थिर होजाये तो राग न तो स्वभाव में था और न नया होसकता है। स्वभाव की शक्ति में जितना स्थिर हुआ जाये उतना ही नवीन राग उत्पन्न नहीं होता।

प्रश्न:—पुण्य तो साथी है, उसके बिना आत्मा अकेला क्या करेगा ?

उत्तर:—पुण्य का निषेध करके स्वभाव में जो सम्पूर्ण शक्ति है उसकी रुचि के बल से जीव अकेला ही पहले से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ करता है। बाह्य दृष्टांत को लें तो-यदि चलनेवाला अपने पैरों से चले तो साथी (मार्ग दर्शक) निमित्त कहलाता है, किन्तु यहाँ अन्तरंग अरूपी मार्ग में किसीका अवलम्बन नहीं है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र में त्रिकाल में भी कोई बाह्य साधन नहीं है। अपनी शक्ति में वैसी तत्परता हो तो वहाँ तदनुकूल संयोग अपने आप उपस्थित होते हैं। आत्मा ऐसा पराधीन नहीं है कि उसके लिये निमित्त की प्रतीक्षा करनी पड़े।

प्रश्न:—जब उपदेश सुने तभी तो ज्ञान होगा ?

उत्तर:—उपदेश सुनने से ज्ञान नहीं होता; यदि ऐसा होता हो तो सभी श्रोताओं को एक सा ज्ञान होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता; लेकिन जिसमें जितनी योग्यता है वह स्वयं उतना समझता है; उसमें निमित्त से ज्ञान होने की बात नहीं है। कोई चाहे जितना समझाये, किन्तु स्वयं सत्य को समझकर स्वयं ही निर्णय करना चाहिये।

नवतत्व में विकारी अवस्था के भेद को दूर करके (गौण करके) अखण्ड, ध्रुव, ज्ञायकस्वभाव को भूतार्थ दृष्टि से देखने पर एक जीव ही प्रकाशमान है। इसप्रकार अन्तरंग लक्ष्य की एकाग्रदृष्टि से देखें तो ज्ञायक भाव जीव है, और जीव के विकार का भेद अजीव है। 'मैं जीव हूँ' इसप्रकार मन के योग से जो विकल्प होता है उसे यहाँ जीव-तत्त्व कहा है। जैसे जबतक राजपुत्र राज्यासन पर नहीं बैठा तबतक वह ऐसा विकल्प करता है कि-मैं राजा होने वाला हूँ, किन्तु जब राज्यासनारुढ़ होजाता है, और उसी की आज्ञा चलती है तब तत्सम्बन्धी विकल्प नहीं रहता; इसीप्रकार मैं पर से भिन्न आत्मा हूँ, अजीव नहीं हूँ ऐसे विकल्प से एकरूप परमार्थ की श्रद्धा के लिये नवतत्व का

विचार करता है; पश्चात् जब यथार्थ-अनुभवयुक्त प्रतीति होजाती है तब वहाँ नवतत्व के विकल्प गौण हो जाने पर अपने को स्वविषयरूप अखण्ड मानता हैं, उसे सम्यक्दर्शन कहते हैं। द्रव्य के निश्चय के कारण से स्वभाव में निःशंक होने के बाद श्रद्धा सम्बन्धी विकल्प नहीं उठते। यदि पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण राग को जल्दी दूर न कर सके तो नवतत्व के विशेष ज्ञान की निर्मलता का विचार करता है, किन्तु वह राग को करने योग्य (उपादेय) नहीं मानता। वह विकारनाशक स्वभाव की प्रतीति के बल से राग को दूर करता है।

सम्यक्दर्शन आत्मा में अनंत केवलज्ञान को प्रगट करने की पीढ़ी का प्रारम्भ है। मैं पूर्ण अरागी हूँ इसप्रकार स्वभाव की अखंडड दृष्टि होने पर भी अस्थिरता से पुण्य-पाप की वृत्ति उत्पन्न हो तो उसका यहाँ निषेध है। पर में अच्छा बुरा मानकर उसमें लग जाने का मेरा स्वभाव नहीं हैं; किंतु लगातार एकरूप जानना मेरा ज्ञायक स्वभाव है।

आत्मा में पुण्य-पाप के विकल्प भरे हुए नहीं हैं। जैसे दर्पण की स्वच्छता में अग्नि, बरफ, विष्टा, स्वर्ण और पुष्प इत्यादि जो भी सम्मुख हों वे सब दिखाई देते हैं तथापि उनसे दर्पण को कुछ नहीं होता, इसीप्रकार आत्मा पर-संयोग से भिन्न है, भावतः दूर है, इसलिये परवस्तु चाहे जिसरूप में दिखाई दे किन्तु वह आत्मा में दोष उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। ज्ञायक * स्वभाव किसी भी संयोग में, चाहे जैसे क्षेत्र या काल में रुकने वाला नहीं है, क्योंकि आत्मा पररूप नहीं है और पर, आत्मरूप नहीं है। एकरूप निर्मल स्वभाव की श्रद्धा की प्रतीति के द्वारा स्वभाव के आश्रय से निर्मलभाव प्रगट होता है। नवतत्त्व के शुभराग से अनेक प्रकार के राग के भेद प्रगट होते हैं जोकि अन्तरंग में सहायक नहीं हैं। बाह्यदृष्टि से देखने पर पर-निमित्त के भेद दिखाई

* निरपेक्ष, अखण्ड, पारिणामिकभाव।

ते हैं; अन्तरंग दृष्टि में अभेद, ज्ञायकस्वरूप मात्र आत्मा दिखाई देता है। कर्माधीन होने वाली अवस्था के जो भेद होते हैं उनकी अपेक्षा से रहित त्रिकाल एकरूप ध्रुव-स्थायी एक ज्ञायक भाव को ही आत्मा कहा है।

तू सदा एकरूप ज्ञाता है। जानना ही जिसका स्वभाव है वह किसे न जानेगा? और जिसका जानना ही स्वभाव है उसे पर में अच्छा बुरा मानकर रुक जाने वाला रागवान कैसे माना जासकता है? अहो! मैं तो ज्ञायक, पूर्ण कृतकृत्य, सिद्ध परमात्मा के समान ही हूँ। अवस्था में निमित्ताधीन विकार का भेद अभूतार्थ है, स्थायी नहीं है, इसलिये उसमें मेरा स्वामित्व नहीं है।

ज्ञान सर्व समाधान स्वरूप है। जैसे–वीतरागी, केवलज्ञानी परमात्मा एक-एक समय में लोका-लोक को परिपूर्ण ज्ञान से जानने वाले हैं, वैसा ही मैं हूँ; इसप्रकार जिसे पूर्ण-स्वतंत्र स्वभाव की महिमा की प्रतीति होजाती है उसके अंतरंग से सारे सांसारिक मल दूर होजाते हैं। उसे देहादिक किसी भी संयोग में महत्ता नहीं दिखाई देती। जिसने निमित्ताधीन–दृष्टि का परित्याग कर दिया है, उसने संसार का ही परित्याग कर दिया है, और पूर्णस्वतंत्र-मोक्ष स्वभाव को ग्रहण कर लिया है।

पुण्य-पाप के भेद मात्र आत्मा के नहीं होते इसलिये अवस्था के विकार में अजीव हेतु है; अर्थात् जीव में कर्म-निमित्तक शुभाशुभभाव नवतत्त्व के विकल्परूपसे हैं। और फिर पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष जिसके लक्षण हैं ऐसे तो केवल जीव के विकार हैं।

पर निमित्त के भेद से रहित आत्मस्वभाव को देखने पर आत्मा ज्ञायक एकरूप है, उसमें अवस्था पर लक्ष्य करके पर निमित्त में युक्त होकर नवतत्त्व का विचार करे तो राग होता है, मैं इसप्रकार संवर कर सकता हूँ, मोक्ष को प्राप्त करूँ, ऐसे विचार में लगकर जो मनके

राग में अटक रहा है सो वह (अटकने के रूप में) सत्यार्थ है। एकरूप ज्ञायक-स्वभाव नौ प्रकार के राग के भेद से रहित है, ऐसे निरावलम्बी अखण्ड स्वभाव पर एकाग्रता करने पर निर्मल पर्याय की उत्पत्ति और विकार का सहज नाश होता है। अकेली पर्याय पर लक्ष्य देने से राग की उत्पत्ति होती है, निर्मलता प्रगट नहीं होती, स्वभाव का लक्ष्य नहीं होता। अवस्थादृष्टि वह राग दृष्टि है, व्यवहारदृष्टि है। मैं वर्तमान में त्रिकाल स्थायी पूर्ण ज्ञायक हूँ, जितनी निर्मल अवस्था प्रगट होगी वह मुझसे अलग प्रगट होने वाली नहीं है। मोक्षदशा, अनंत-ज्ञानानंद, अनन्त आत्मबल इत्यादि संपूर्ण शक्ति प्रतिसमय वर्तमानरूप में आत्मा में भरी हुई हैं। ऐसे पूर्ण अखण्ड स्वभाव पर लक्ष्य देने पर विकल्प छूट जाता है।

श्रद्धा का विषय आत्मा का सम्पूर्ण त्रिकाल पूर्ण स्वभाव है। संसार और मोक्ष अवस्था है। उस अवस्था तथा मोक्षमार्ग की अवस्था के भेद का लक्ष्य श्रद्धा के विषय में नहीं है। जैसे सामान्य स्वर्ण को लेने वाला सोने की कारीगरी की अलग कीमत नहीं देता, यद्यपि सोने में वर्तमान सारी कारीगरी की योग्यतारूप शक्ति है उसे वह स्वर्णरूप में अभिन्न अनुभव करता है; इसीप्रकार आत्मा एकरूप त्रिकाल, पूर्ण शक्ति से अखण्ड है, उसे मानने वाला किसी अवस्था के भेद को पृथक्-खण्डरूप में ग्रहण नहीं करता। केवलज्ञानादिरूप समस्त शक्तियाँ वर्तमान द्रव्य में भरी हुई हैं; उस अखण्ड ज्ञायकस्वभाव के बल से निर्मल अवस्था सहज प्रगट होती है, किन्तु यदि भेद पर लक्ष्य रखकर नवतत्त्व के विकल्प में लग जाय तो स्वभाव का लक्ष्य नहीं होता, निर्मल आनन्द-शांति प्रगट नहीं होती; इसलिये भेद को गौण करके नवत्व के भेद से किंचित् छूटकर, स्वभाव जोकि एकरूप है उस पर एकाग्रता का भार देने पर एक साथ निर्मलता की उत्पत्ति, और विकार का नाश होता है, तथा क्रमशः पूर्ण निर्मल मोक्ष पर्याय सहज ही प्रगट होजाती है। अवि-कारी एकाकार पारिणामिक ज्ञायक स्वभाव की ऐसी महिमा है। निर्मल

शक्ति का बल द्रव्य में से स्वरूप स्थिरता के रूप में आता है। वह निर्मल-निराकुल शांति, सुख और आनन्द अपना स्वाद है।

समयसार का अर्थ है असंयोगी, अविकारी, शुद्ध, आत्मा का स्वभाव। सर्वज्ञ भगवान ने साक्षात् ज्ञान से प्रत्येक जड़-चेतन वस्तु की स्वतंत्रता को देखा है। कर्म के निमित्त से आत्मा में विकारी अवस्था होती है, वह क्षणिक विकार का नाशक त्रैकालिक स्वभाव प्रत्येक आत्मा में है। उसकी प्राप्ति कैसे करनी चाहिये, यह बतानेवाली वाणी सर्वज्ञ के मुख-कमल से निकलती है, जिसे संतपुरुष झेलते हैं। आत्मानुभव से उस परम सत्य को पचाकर जगत के परम उपकार के लिये संतपुरुषों ने परमागम शास्त्रों की रचना की है, उनमें से यह समयसार ग्रन्थ सर्वोत्कृष्ट है। एक-एक गाथा में त्रिकाल के सर्वज्ञ-हृदय के रहस्य भरे हुए हैं। इसे जो समझता है वह निहाल होजाता है।

जो वस्तु होती है वह नित्य स्वयंसिद्ध होती है, किसी के आधीन नहीं होती, आत्मा, जड़ इत्यादि पदार्थ त्रिकाल स्वयंसिद्ध हैं। जैसे कोई अग्नि को गरम न माने तो उससे उसका स्वभाव नहीं बदल जाता, इसीप्रकार जड़ चेतन पदार्थ त्रिकाल भिन्न हैं; किसी के कार्य कारणरूप नहीं हैं, तथापि यदि ऐसा न माने तो स्वभाव बदल नहीं जाता। अपने पृथक्त्व को भूलकर, निमित्ताधीन दृष्टि से देखनेवाले ने जिसको देखा उसीको अपना मान लिया। जो शरीर इन्द्रियादिक हैं सो मैं हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, और मैं पर का कुछ कर सकता हूँ; इसप्रकार मानता है, किन्तु अनन्तकाल में एक क्षण भर को भी यह नहीं माना कि मैं पृथक नित्य-ज्ञायक हूँ।

निमित्ताधीन दृष्टि को छोड़कर स्वाधीन स्वभाव की एकरूप दृष्टि से देखने पर जीव ज्ञायकभाव है; वह मात्र जाननेवाला ही नहीं है किन्तु अनंत सत्व-स्वरूप अन्य अनन्त गुणों से परि-पूर्ण है; उसकी वर्तमान अवस्था में पुण्य-पाप के विकार का निमित्त-

कारण अजीव है। (यहाँ यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि जीव को जड़ पदार्थ विकार कराते हैं) अपने को भूलकर निमित्त को अपने में गुण-दोष-दाता मानकर आत्मा स्वयं ही विकारी अवस्था करता है, तब परवस्तु की उपस्थिति निमित्त कहलाती है। उसके दो पहलू हैं। [१] नवप्रकार के विकल्परूप से विकारी भाव जिसका लक्षण है, वह तो जीव की अवस्था है। यदि विकारी होने की योग्यता जीव में स्वयं न हो तो नई नहीं होसकती, किन्तु वह एक-एक समय की अवस्था जितनी ही होती है इसलिये नित्य स्वभाव के लक्ष्य से क्षणभर में निर्मलरूप में बदल सकती है [२] जीव की विकारी अवस्था के नव-भेदों में निमित्तकारण जड़ कर्म है।

विकार त्रिकालीस्वभाव में से नहीं आता, किन्तु निमित्ताधीन दृष्टि से नया होता है। जब आत्मा पुण्य-पाप के राग में अटक जाता है तब गुण का विकास रुक जाता है, वह भावबंधन है। जहाँ निन्दा और प्रशंसा को सुनने के लिये रुका कि-वहाँ दूसरा विचार करने की आत्मा की शक्ति हीन होजाती है। पंचेन्द्रियों के विषयों की ओर अच्छे-बुरे की रुचि करके राग में जो रुकना होता है, सो वही परमार्थ से भावबंधन है।

यहाँ सात अथवा नवतत्त्व के शुभाशुभ विकल्प को जीव के विकार का लक्षण कहना है। दया, दान, सेवा, और भक्ति के शुभभाव जीव स्वयं परलक्ष्य से करता है, तब होते हैं। उसके निमित्त से पुण्य के जो रजकण प्रारब्धरूप में बंधते हैं सो अजीवतत्व है। एक ओर विकारी सात तत्त्व के रूप में जड़-अजीव वस्तु है और दूसरी ओर जीव की विकारी अवस्था सात प्रकार के विकल्परूप से है। उस विकार के दो-दो भेद एकरूप स्वभाव में नहीं हैं; उस भेद के लक्ष्य से निर्मल श्रद्धा प्रगट नहीं होती।

अपने में प्रतिक्षण क्या होरहा है इसका विचार तक जीव नहीं करते, घर की खिड़कियों, दरवाजों और जीने की सीढ़ियों का बराबर

ध्यान रखता है कि वे कितनी हैं और कैसी हैं; किन्तु भगवान आत्मा के शाश्वत् घर में क्या निधान है; और मैं उनका कैसा क्या उपयोग करता हूँ, इसकी कोई खबर नहीं रखता। यहाँ कोई कह सकता है कि यह चर्चा तो बहुत बारीक है, जो कि मेरी समझ में नहीं आती; किंतु यदि बाहर की कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवृत्ति बताई जाये तो झट समझ में आजाती है। अरे भाई! यह तो ऐसी बात हुई कि:—

घर में नहीं है चून चने का, ठाकुर वडीं करावें।
मुझ दुखनी को लँहगा नाहा, कुतिये झूल सिलावें॥

तेरे अपने स्वाधीन गुण की निरन्तर हत्या होती है, तेरे अविवेक से तेरी समस्त शक्तियाँ हीन होरही हैं; इससे तेरा स्वभाव प्रगट नहीं हो सकता, किन्तु विकारी पर्याय ही प्रगट होती है। तू अपने स्वभाव को लुटा रहा है। इसप्रकार आत्मा में सुख का अकाल करके मैं किसी का भला कर सकूँगा, ऐसी जो मान्यता बना रखी है सो अनादिकालीन महा अज्ञान है। जो पुण्य के संयोग में सुख मानता है सो भी मात्र आकुलता के दुःख में सुख की कल्पना कर रहा है। जैसे मूढ़ बालक विष्ठा को चांटता है उसीप्रकार बाल जीव स्वभाव की शांति को भूलकर पुण्य-पाप की आकुलता को अपना मानकर उसका स्वाद लेते हैं। और वे ऐसी व्यर्थ की डींग मारते रहते हैं कि—हम नीतिवान हैं, हम परोपकारी हैं, किन्तु अरे भाई! जरा ठहर और विचार कर कि—तू कौन है, तेरा क्या स्वरूप है, क्या नहीं हैं, तू क्या कर सकता है, क्या नहीं कर सकता, यह सब निर्णय कर, अन्यथा चौरासी के चक्कर में परिभ्रमण करने का पार नहीं आयेगा। अज्ञान वह कोई बचाव नहीं है। जैसे शराबी मनुष्य शराब पीकर उसमें आनन्द मानता है इसीप्रकार अज्ञानी जीव अपने को अज्ञानभाव में सुखी मानता है, वे दोनों समान हैं। यह जीव अनंतकाल से चौरासी के अवतार में अनंतबार अपार दुःख भोगकर आया हैं; उन्हें यह भूल गया है। यदि स्वयं ही निजको

अपनी दया आये तो इस भव का अन्त हो। अन्तरंग में जो निराकुल आनंद है उसे भूलकर यह जीव बाहर की आकुलता के दुःख को ही सुख मान रहा है।

जो यह कहते हैं कि मैं लोगों का सुधारकर दूँगा, वे झूठे हैं। अपने राग के लिये कोई शुभभाव करे तो उसका निषेध नहीं है, किन्तु जो उसमें यह मानता है कि मैं दूसरे का कुछ करता हूँ और दूसरे के लिये करता हूँ, सो महा मूढ़ता है। जगत में सर्वत्र काँटे बहुत हैं, किन्तु तू उन सब की चिन्ता क्यों करता है ? यदि तू केवल अपने पैरों में जूते पहिन ले तो बहुत है। तेरे द्वारा दूसरे का समाधान नहीं होसकेगा। जब तुझे भूख लगती है, तब दुनियाँ भर को भूलकर अकेला खा लेता है। ऐसा कोई परोपकारी दिखाई नहीं देता कि जो ऐसा निश्चय करे कि जब गाँव के सब लोग खा चुकेगें तब मैं खाऊँगा, क्योंकि ऐसा हो नहीं सकता।

कहत कबीरा सुन मेरे मुनियाँ।
आप मरे सब डूब गई दुनियाँ॥

स्वयं समझ लिया कि मैं पर से भिन्न हूँ, दूसरे के साथ त्रिकाल में भी मेरा सम्बन्ध नहीं है, पर का कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं है; इसप्रकार अपने स्वतंत्र स्वभाव का निर्णय होने के बाद, जगत माने या न माने, उस पर अपनी मान्यता अवलम्बित नहीं है। अपने परमार्थ एकरूप स्वभाव को भूलकर पुण्य-पाप की विकारी अवस्था मेरी है, इसप्रकार पर में नव प्रकार के विकल्पों से एकता मानकर उसके फल में खण्ड खण्ड भाव से राग में जीव अटक जाता है, यह बात (अटकने की अपेक्षा से) सच है।

प्रश्नः—आत्मा के साथ कर्म का संयोग कब से हुआ हैं ?

उत्तरः—कर्म का संयोग अनादि काल से है, किन्तु वह एक-एक समय को लेकर वर्तमान अवस्था से है। जहाँ तक विकारी भाव को

दूर नहीं करेगा तब तक वह वैसा ही बना रहेगा । वर्तमान में किसी भी जीव के पास अनादिकाल के कर्म नहीं हैं । हाँ प्रवाहरूप से अनादि हैं । जीव पर से बंधा हुआ नहीं किन्तु पर से भिन्न है, तथापि अज्ञान भाव से पर को अपना मानकर परोन्मुखरूप-राग में अनादि काल से अनेक अवस्थाओं में यह जीव भटक रहा है ।

जैसे कनक पाषाण में सोना, और तिल में तेल तथा खली एक साथ ही होती है, तथापि स्वभावत: भिन्न हैं इसलिये उन्हें अलग किया जासकता है; इसीप्रकार जीव और कर्म का एक साथ एक क्षेत्र की अपेक्षा से अनादिकालीन संयोगसम्बन्ध है, किन्तु दोनों भिन्न वस्तु हैं इसलिये वे अलग होसकती हैं ।

कोई कहता है कि हम तो आपकी बात को तब सच माने जब कि हम उसे सुनते ही तत्काल सब समझ लें; किन्तु भाई ! पाठशाला में जब पढ़ना प्रारम्भ किया जाता है, तब क्या सब कुछ उसी समय समझ में आजाता है ? और व्यापार सीखने के लिये कई वर्ष तक अभ्यास करता है क्यों कि उसमें उमंग है; और क्या यह मुफ्त की चीज़ है, जो सुनते ही तत्काल मन में समा जाये । यह तो ऐसी अपूर्व बात है जिससे जन्म-मरण दूर होसकता है, इसलिये यह खूब परिचय करने पर समझ में आसकती है ।

जो यह कहता है कि आप तो दिन रात आत्मा ही आत्मा की बातें किया करते हैं, आप कभी कोई ऐसी बात तो कहते ही नहीं कि जिसमें किसी का भला कर सकें; तो वह यथार्थतया यही निश्चय नहीं कर पाया कि दूसरे के लिये वह कितना उपकारी है ।

प्रश्न:—जो दिखाई नहीं देता उसकी महिमा गाई जाती है, और जो दिखाई देता है, उसके सम्बन्ध में आप कहते हैं कि-इसे तू नहीं कर सकेगा, इसका क्या कारण है ?

उत्तरः—आत्मा अरूपी है, ज्ञातास्वरूप है वह किसी अन्य वस्तु का कुछ करने के लिये समर्थ नहीं है, जो दिखाई देता है वह जड़ की स्वतंत्र क्रिया है। जीव तो राग-द्वेष और अज्ञान कर सकता है, अथवा राग-द्वेष और अज्ञान को दूर करके ज्ञान और शांति कर सकता है। तू कहता है कि आत्मा दिखाई नहीं देता, किन्तु यह तो बता कि यह किसने निश्चय किया कि–आत्मा दिखाई नहीं देता ? देह अथवा जड़ इन्द्रियों को तो खबर होती नहीं तब उन सब को जानने वाला कौन है ? सच्चे झूठे का निश्चय करने वाला शरीर नहीं होसकता। इसलिये शरीर से भिन्न आत्मा है, यह पहले स्वीकार कर लेने पर यह जानना चाहिये कि–उसका क्या स्वरूप है, उसके क्या गुण हैं, वह किस अवस्था में है, और भिन्न है तो किससे भिन्न है। समझने की इस पद्धति से यथार्थ को समझा जासकता है। यदि सुनकर मनन न करे तो क्या लाभ होसकता है ?

अपूर्व परम तत्व की बात कान में पड़ना भी दुर्लभ है, इसलिये उसके विचार में, सत्समागम में, अधिक समय लगाना चाहिये। भीतर से भवधारण करने का खेद होना चाहिये कि–अरे रे ! मैंने कभी अपनी चिंता नहीं की। यदि अन्तरंग में अपनी दया खाये तो यह जाना जासकता है कि पर दया क्या है। अपने को पर का कर्ता मानना, अथवा पुण्य-पाप के विकाररूप मानना ही सबसे बड़ी स्वहिंसा है। अपने स्वभाव को पर से भिन्न त्रिकाल स्वाधीन जानकर, अपने को राग-द्वेष और अज्ञान से बचाना; अर्थात् एकरूप ज्ञान भाव से अपनी संभाल करना सो सच्ची अहिंसा है।

जिस भावसे जन्म-मरण दूर होता है उसकी बात यहाँ कही जाती है। धर्म के नाम लौकिक बातें करनेवाले तो इस जगत में बहुत हैं। काम, भोग, और बंध की कथा घर-घर सुनने को मिलती हैं; आत्मा पर का कर्ता है, उपाधिवाला है, इत्यादि बातें भी जहाँ तहाँ सुनने मिलती किन्तु यहाँ तो नवतत्व की पहिचान कराकर और

फिर उस भेद को तोड़कर अभेद स्वभाव में जाने की बात कही है। वर्तमान संयोगाधीन अवस्था को गौण करके नवतत्व के भेदरूप मन के योग से जरा हटकर, सर्वकाल में अस्खलित एक जीव द्रव्य में स्वभाव के समीप जाकर एकाग्र अनुभव करने पर नव प्रकार के क्षणिक भंग अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं। वे त्रिकाल स्थायी नहीं हैं। त्रिकाल स्थायी तो स्वयं है। यह सम्यक्दर्शन की पहली से पहली बात है। अनादिकालीन विपरीत मान्यता का नाश करके परिपूर्ण स्वभाव को देखनेवाली शुद्ध दृष्टि का अनुभव होने पर दुःख का नाशक और सुख का उत्पादक पवित्र आत्मधर्म प्रगट होता है।

नवप्रकार के विचार में खण्ड-खण्डरूप से रुक कर सत् समागम से पहले मन से यथार्थ निर्णय करना होता है; किन्तु उस भेद में लगे न रहकर नवतत्व के विचार से जरा पीछे हटकर, निर्विकल्प एकरूप संपूर्ण ध्रुव स्वभाव के लक्ष्य में स्थिर होकर, एकत्व का अनुभव करने पर एक में अनेक प्रकार के भेद दिखाई नहीं देते। क्षणिक शुभ-अशुभ विकल्प ध्रुव स्वभाव में स्थान नहीं पाते। इसलिये इन नवतत्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है। इसप्रकार वह एकरूप से प्रकाशित करता हुआ शुद्धनयरूप से अनुभव किया जाता है। और जो वह अनुभूति है सो आत्मख्याति (आत्मा की पहिचान) ही है; और जो आत्मख्याति है सो सम्यक्दर्शन ही है। आत्मा की पूर्ण सुख-रूप दशा को प्रगट करने का यह मूल है।

यह सम्यक्दर्शन किसी सम्प्रदाय विशेष की वस्तु नहीं है, तथा ऐसी वस्तु भी नहीं है कि जिसे मात्र मन में धारण कर लिया जाय। प्रभु! तेरी वस्तु तेरे ही पास है जिसे ज्ञानी बतलाते हैं। तेरी महत्ता अनन्त सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु ने गाई है। जैस चक्रवर्ती शकोरा लेकर, अथवा मिट्टी का भिक्षापात्र लेकर भीख मांगने निकल पड़े, दूसरे का मुँह ताके, और पराश्रय ढूँढ़े, तो वह उसे शोभा नहीं देता, उसीप्रकार तू अपने उत्कृष्ट

स्वभाव को भूलकर दूसरे की आशा करता है, दूसरे से सहायता चाहता है, तो वह तुझे शोभा नहीं देता।

मेरा पूर्ण स्वभाव अविकारी ध्रुव एकरूप है। ऐसे स्वभाव के बल से विकारी अवस्था के लक्ष्य को गौण करके, मैं नित्य एकस्वभावी भूतार्थ हूँ, ऐसी यथार्थ पहिचान का स्वानुभव में आना, सो निःशंक आत्मानुभूति है। यही अपूर्व आत्म-साक्षात्कार है। यही आत्मख्यातिरूप एकत्व की सच्ची श्रद्धा है, वह अखण्डस्वलक्ष्य से प्रगट होती है।

इसप्रकार यह सर्व कथन पूर्वापर दोष रहित है। लोग भी कहते हैं कि-परिचय बहुत बड़ी वस्तु है। निमित्ताधीन दृष्टि से पुण्य-पाप के बाह्यभाव में अटककर जीव अनेक प्रकार के खण्डों का अनुभव करता था, निजलक्ष्य को भूलकर पर को मानता, जानता और पर के राग में अटक रहा था; जब रुचि बदल गई तब वह एकरूप स्वभाव में आया और उससे वह अपने को मानता, जानता और उसमें स्थिर होता है। इसप्रकार जब आत्मा की पहिचान स्वयं करता है तब होती है।

प्रश्नः—जब कि सब स्वयं अपने लिये करते हैं तो गुरु उपदेश किसलिये देते हैं?

उत्तरः—वे दूसरों के लिये उपदेश नहीं देते किन्तु अपने को सत् के प्रति रुचि है इसलिये वे अपनी अनुकूलता के गीत गाते हैं। यह तो अपनी रुचि का आमंत्रण है। अपनी रुचि की दृढ़ता को प्रगट करते हुए, सत्य की स्थापना और असत्य का निषेध सहज ही हो जाता है। मैं किसी के लिये उपदेश करता हूँ यह मानना मिथ्या है। दूसरे लोग धर्म प्राप्त करें या न करें, इससे उपदेशक को लाभ या हानि नहीं होती, किन्तु प्रत्येक को अपने भाव की तारतम्यता के अनुसार फल मिलता है।

यह अपूर्व समझ की रीति कहलाती है। यह बाहरी बातें नहीं हैं। सत्य जल्दी पकड़ में न आये, और सीधी बात के समझने में देर

लगे तो कोई हानि नहीं है, किन्तु अपनी कल्पना से उल्टा कर बैठे तो अपने में बहुत बड़ा विरोध बना रहेगा। सत्य को समझे बिना राग दूर नहीं हो सकता। विपरीत ग्रहण से मूढ़ता विष चढ़ जायेगा।

कोई बालक माता से कहे कि 'मुझे बहुत भूख लगी है, घर में जो कुछ हो सो मुझे दे दे।' माता कहती है कि घर में मात्र रोटी हैं लेकिन उस पर विषैले जानवर का विष पड़ा हुआ मालूम होता है इसलिये वह खाने योग्य नहीं है; मैं एकाध घण्टे में दूसरा भोजन तैयार करे देती हूँ; अथवा काकाजी के घर चला जा, उनके घर मिष्टान्न तैयार हो रहा है; किन्तु उसमें दो तीन घण्टे की देर लगेगी, इतने में कुछ मर नहीं जायेगा, किन्तु यदि यह विषैली रोटी खा लेगा तो जीवित नहीं रहेगा। इसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि निर्दोष अमृतमय उपदेश में से पवित्र आत्मा के लिये सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी मिष्टान्न तैयार हो रहा है, उसे समझने का धैर्य न रखे, उसे मँहगा समझकर बाहर के पुण्य-पाप में धर्म माने, तो उस विपरीत मान्यता का चढ़ा हुआ विष ऐसा फद-फदा उठेगा कि पुण्य के शोथ की जलन का पार नहीं आयेगा; चौरासी के अवतार में कहीं भी धर्म सुनने का सुयोग नहीं मिलेगा। इसलिये सर्वज्ञ वीतराग का कथन क्या है? उसे पात्रता से, सत्समागम से निवृत्ति पूर्वक सुनकर, अविकारी-आत्म स्वभाव के स्वीकार करना चाहिये।

आत्म-प्रतीति के होने के बाद, स्वभाव के बल से विशेष राग के दूर होने पर बीच में व्रत संयम के शुभभाव सहज ही आते हैं, शुभाशुभ वृत्ति से छूटकर अन्तरंग ध्यान में एकाग्र होते समय बाह्यवृत्तिरूप विचार नहीं होता। शुभाशुभ राग अविकारी स्वभाव से विरोधभाव है; उससे त्रिकाल में भी सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं होसकता। पापभाव को छोड़ने के लिये पुण्यभाव ठीक है—उसका निषेध नहीं है, किन्तु उससे हित मानना बहुत बड़ी भूल है, क्योंकि वहाँ अविकारी स्वभाव का विरोध होता है। जिसे पूर्वा पर विरोध रहित स्वरूप की प्रतीति

नहीं है उसके सच्चे व्रत और साधुता नहीं होसकती। कषाय को सूक्ष्म करने से पुण्यबंध होता है, किन्तु भव-भ्रमण कम नहीं होता। आचार्यदेव कहते हैं कि यह सर्व कथन निर्दोष–निर्बाध है। बाह्यदृष्टि वाला जीव निर्दोषत्व अथवा दोषत्व किसमें निश्चय करेगा ?

जैसे एक ढाल की दो बाजू होती हैं, उनमें से जब एक बाजू देखने की मुख्यता होती है तब दूसरी लक्ष्य में गौण होजाती है; इसीप्रकार एक आत्मा को कर्म के निमित्ताधीन, विकारी क्षणिक दृष्टि से देखें, तो एकरूप स्वभाव से विरुद्ध अनेक प्रकार का रागभाव है, उसे जानकर यह मेरा मूल स्वभाव नहीं है इसलिये उस ओर आदरभाव से देखना बन्द करना चाहिये अर्थात् उसके लक्ष्य को गौणकर देना चाहिये। यदि अन्तरंग दृष्टि से दूसरी शुद्ध पवित्रता की बाजू पर देखें तो आत्मा त्रिकाल एकरूप ज्ञायक है, अनंत आनंदस्वरूप है।

भावार्थ—इन नवतत्वों को जानने के बाद, एक में अनेक प्रकार को देखने वाली बाह्य दृष्टि को गौण करके शुद्ध नय से अखण्ड एक स्वभाव की ओर उन्मुख होकर देखें तो जीव ही एक मात्र चैतन्य चमत्कार प्रकाशरूप में प्रगट होरहा है, इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न नवतत्वों के विकल्प कहीं कुछ दिखाई नहीं देते। इसप्रकार जहाँ तक जीव को अपने ज्ञायक स्वभाव की जानकारी नहीं है, वहाँ तक वह व्यवहार में मूढ़ दृष्टि वाला है क्योंकि वह भिन्न-भिन्न नवतत्वों को मानता है।

शुद्धनय के द्वारा नवप्रकार में से बाहर निकालकर आत्मा को एकरूप मानता सो सम्यक्त्व है। नवतत्वों के विकल्प के भेद की श्रद्धा को गौण करके अभेद को स्वविषय करने वाले के निश्चय सम्यकदर्शन प्रगट होता है। पहले नवतत्वों के भेद जानना पड़ते हैं; किंतु वह गुण का कारण नहीं है, स्वभाव नहीं है। स्वभाव तो त्रिकाल एकरूप शुद्ध ही है। वह विकार का नाशक, गुण का रक्षक और निर्मलता का उत्पादक है; उसके बल से धर्म का प्रारंभ होता है।